5.2

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

६

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशम्

मल्लिनाथकृत-सञ्जीविनी-व्याख्या-समलङ्कृतम्

'निर्मला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

(व्याकरण-साहित्य-वेदान्त-सांख्ययोग-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहासाचार्यः)

लब्धावकाशप्राध्यापकः, पुराणेतिहास-भूगोल-संस्कृति-विभागाध्यक्षश्च

वाराणसेय श्रीसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

९

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशम्

मल्लिनाथकृत-सञ्जीविनी-व्याख्या-समलङ्कृतम्

'विमला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

(तृतीयसर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

(व्याकरण-साहित्य-वेदान्त-सांख्ययोग-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहासाचार्यः)

लब्धावकाशप्राध्यापकः, पुराणेतिहास-भूगोल-संस्कृति-विभागाध्यक्षश्च

वाराणसेय श्रीसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१

चतुर्थ संस्करण १९८१

मूल्य ३-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

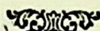
श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

9



RAGHUVAMŚAM

OF

KĀLIDĀSA

(*Canto III*)

WITH 'SANJIVINI' COMMENTARY OF MALLINATHA

and

'Vimala'-'Chandrakala' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt. of Puranetihas

Sri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Fourth Edition
1981
Price Rs. 3-00

Also can be had of
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001

कथासार

गर्भधारण के बाद राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणाने पतिको, प्रिय सखियों को आनन्दप्रद और इक्ष्वाकुवंश की वृद्धि के लिए कारणभूत गर्भ के चिह्न को धारण करना आरम्भ किया। उनका शरीर दुबला होने लगा, मुख पीला पड़ गया, उन्होंने अधिक आभूषणों को उतार दिया तथा मिट्टी खाना शुरू कर दिया। यह देखकर परम प्रसन्न राजा ने उनकी सखियों से गर्भिणीमनोरथ को पूछ-पूछ कर तदनुकूल सारी व्यवस्थाएँ कर दीं। धीरे-धीरे उनके गर्भ का कष्ट कम होने लगा और उनका शरीर पुष्ट होने लगा, उनका कुचाग्र भाग काला हो गया। राजा दिलीप ने उन्हें गर्भवती समझकर पत्नीप्रेम और अपनी सम्पत्ति के अनुरूप पुंसवन आदि वैदिक संस्कारों को सम्पन्न किया और प्रवीण वैद्यों द्वारा गर्भ के भरण-पोषण की व्यवस्था कर दी। दसवें महीने में सुदक्षिणा को पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। राजा ने उदारतापूर्वक दान दिया और कुलगुरु वसिष्ठजी को तपोवन से बुलाकर विधिवत् जातकर्म संस्कार कराया तथा उस बालक का नाम रघु रख दिया।

धाई के वचनों को तुतली बोली में दुहराता हुआ वह बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा, बाद में उपयोगी विद्याओं का अध्ययन कर सुशिक्षित हो गया। राजा दिलीप ने उसका यज्ञोपवीत-संस्कार तथा विवाह करके उसे युवराज बना दिया। रघु के युवराज होते ही राजा दिलीप शत्रुओं के लिए असह्य हो गये। बाद में युवराज रघु को घोड़े की रक्षा के निमित्त नियुक्त कर ९९ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर लिये। सौवाँ अश्वमेध करने के हेतु राजा ने जब घोड़ा छोड़ा, तब देवराज इन्द्र को सहन नहीं हुआ। वे घोड़े को चुराकर अदृश्य हो गये। घोड़े को न देख सेना सहित रघु किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। इतने में ही वशिष्ठजी की कामधेनु गौ नन्दिनी दिखाई पड़ी, जिसका प्रभाव उन्होंने पहले सुन रखा था। तत्काल उसके मूत्र को अपनी आँखों में लगाकर देखा कि इन्द्र घोड़े को चुराकर ले जा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही रघु ने इन्द्र को ललकारते हुए कहा—देवराज, आप यज्ञों के रक्षक होकर स्वयं ऐसा करेंगे, तो यज्ञ कैसे हो सकेगा? तब इन्द्र ने कहा—राजकुमार! तेरा कहना सत्य है, फिर भी तुम्हारे पिता दिलीप सौवाँ अश्वमेध यज्ञ पूरा कर मेरा यश मिटा देना चाहते हैं, क्योंकि मैं ही एकमात्र शतक्रतु (सौ यज्ञ पूरा करने वाला हूँ) दूसरा कोई नहीं, इसलिए मैंने इस

घोड़े का अपहरण कर लिया है, तुम लौट जाओ नहीं तो राजा सगर की सन्तानों की तरह तुम्हारी भी दशा होगी ।

इस पर रघु ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है, तो अस्त्र उठाइये ! मुझे बिना जीते आप घोड़े को नहीं ले जा सकते हैं। यह कहते हुए रघु ने इन्द्र की छाती पर एक बाण मारा। इन्द्र ने भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक बाण रघु की छाती में ऐसा मारा कि रुधिर की धारा बहने लगी। इस प्रकार दोनों में भयङ्कर युद्ध होने लगा। अन्त में रघु ने इन्द्र के रथ की ध्वजा को काट गिराया; जिससे अपना अत्यन्त अपमान समझकर इन्द्र ने अतिक्रोध में आकर रघु को मार डालने के निमित्त अपने अमोघ अस्त्र वज्र का प्रहार किया, किन्तु जरा सी मूर्च्छा का अनुभव कर रघु उठकर पुनः खड़े हो गये। इस प्रकार रघु को घोर महायुद्ध में अचल देखकर उनकी वीरता पर इन्द्र प्रसन्न हो गये और बोले— युवराज ! पर्वतों की पांख काटने वाले मेरे इस अमोघ वज्र के प्रहार को तुम्हारे अतिरिक्त आज तक किसी ने नहीं सहा है। तुम्हारे इस साहस एवं वीरता को देखकर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। इस घोड़े को छोड़कर जो चाहो माँग लो।

यह सुन रघु ने कहा—देवराज ! यदि आप घोड़े को नहीं देना चाहते हैं, तो निरन्तर यज्ञ करनेवाले मेरे पूज्य पिताजी, इस आरब्ध सौवें अश्वमेध यज्ञ के पूर्ण फल को प्राप्त करें और शिवजी के अंश होने के कारण अत्यन्त दुरासद, सम्प्रति यज्ञशाला में विराजमान मेरे पिताजी हम लोगों के इस समाचार को आप के दूत के द्वारा ही जिस प्रकार सुन सकें, आप कृपया वैसा ही प्रबन्ध कर दें। इन्द्र ने रघु की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और अपने सारथी मातलि के साथ जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से अपनी नगरी इन्द्रपुरी की ओर प्रस्थान किया। इधर युवराज रघु भी विजयी होने परभी घोड़े को न प्राप्त होने के कारण विशेष प्रसन्न न होते हुए राजा दिलीप के यज्ञमण्डप की ओर लौट पड़े।

रघु और इन्द्र के वृत्तान्त को राजा दिलीप इन्द्रदूत के मुख से पहले ही सुन-कर परम प्रसन्न हो चुके थे। अतः रघु के आने पर इन्द्र के वज्र के आर्द्र घाव से चिह्नित शरीर पर हर्ष से शिथिल हाथ को धीरे-धीरे फेरते हुए उन्होंने उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार दिलीप ने ९९ अश्वमेध यज्ञ कर जीवन-लीला के बाद स्वर्ग जाने के लिए ९९सीढ़ियों की पंक्ति बनाकर अपने युवक पुत्र रघु को राज्य देकर वानप्रस्थाश्रम में रहकर तपस्या करने के लिए तपोवन में प्रस्थान कर दिया, क्योंकि इक्ष्वाकुकुल के राजाओं का यही कुलनियम था।

॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

तृतीयः सर्गः

'राज्ञी सुदक्षिणा गर्भमाधत्त' (२–७५) इत्युक्तम् । सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति—

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सुदक्षिणा उपस्थितोदयं भर्तुः ईप्सितं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखं इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः निदानं दौर्हृदलक्षणं दधौ ।

व्याख्या—अथ = गर्भधारणानन्तरम् । सुदक्षिणा=दिलीपपत्नी । उपस्थितोदयं=प्राप्तकालम् । भर्तुः=पत्युः, दिलीपस्य । ईप्सितं=अभीष्टम् । सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखं=वयस्यावर्गलोचनचन्द्रिकोपक्रमम् । इक्ष्वाकुकुलस्य=वैवस्वतपुत्रेक्ष्वाकुवंशस्य । सन्ततेः=सन्तानस्य, वंशनैरन्तर्यस्य । निदानं=आदिकारणम् । दौर्हृदलक्षणं=गर्भचिह्नम् । दधौ=बभार ।

समासः—उपस्थित उदयो यस्य तत् उपस्थितोदयं तत् उपस्थितोदयम् । कौ पृथिव्यां मुत् आनन्दो यस्या, यया वा सा कौमुदी, चन्द्रिका यद्वा कौ मोदन्ते जना अस्यामिति कौमुदी दीपावली, सख्यो जना इति सखीजनाः उद्वीक्ष्यते एभिरित्युद्वीक्षणानि सखीजनानामुद्वीक्षणानि सखीजनोद्वीक्षणानि कौमुद्या मुखं कौमुदीमुखं, सखीजनोद्वीक्षणानां कौमुदीमुखमिति सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् तत् सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् । इक्ष्वाकोः कुलं इक्ष्वाकुकुलं तस्य इक्ष्वाकुकुलस्य । दुर्हृदो भावः कर्म वा दौर्हृदं दौर्हृदस्य लक्षणं दौर्हृदलक्षणं तत् दौर्हृदलक्षणम् ।

भावार्थः—गर्भधारणानन्तरं राज्ञी सुदक्षिणा दिलीपस्य प्रियकरं कौमुदीमहोत्सवरूपेण वयस्यावर्गस्य सुखजनकं वैवस्वतमनुपुत्रस्य राज्ञः इक्ष्वाकोः वंशवर्द्धनमुख्यकारणं वक्ष्यमाणं गर्भचिह्नं धारयामास तथाहि—

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा ।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्या संमील्यन्ते विशेषतः ॥

सुदक्षिणायां गर्भचिह्नदर्शनात् राज्ञः तत्सखीनां च हर्षातिरेको बभूवेति भावः ।

अथ सञ्जीविनीमङ्गलाचरणम्

उपाधिगम्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्यः ।
भावोऽपि योऽभूदभवः शिवोऽयं जगत्यपायादपि नः स पायात् ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा । उपस्थितोदयं प्राप्तकालं भर्तुर्दिलीपस्येप्सितं मनोरथम् । भावे क्तः । पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भावम् । यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः । तदुक्तं भविष्योत्तरे—"कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मता" इति । तस्या मुखं प्रारम्भम् । 'सखीजनोद्वीक्षणकौमुदी' इति पाठं केचित्पठन्ति । इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य निदानं मूलकारणम् । "निदानं त्वादिकारणम्" इत्यमरः । एवंविधं दौर्हृदलक्षणं गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ । स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी । यथाऽऽह वाग्भटः—"मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयं तु तत् । सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमाननम्" ॥ इति । तत्सम्बन्धित्वाद् गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते । सा च तद्योगाद्दौर्हृदिनीति । तदुक्तं संग्रहे—'द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते' इति । अत्र दौर्हृदलक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद् रूपकालङ्कारः । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षणात् ।

भावार्थ—इसके बाद सुदक्षिणा ने प्रकटित लक्षणोंवाले, स्वामी के अभीष्ट, सखियों के नेत्रों के आह्लादक, इक्ष्वाकुवंश की संतति के कारणभूत गर्भ के चिह्नों को धारण किया ॥ १ ॥

सम्प्रति क्षामताऽऽख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

अन्वयः—शरीरसादाद् असमग्रभूषणा लोध्रपाण्डुना मुखेन उपलक्षिता सा, तनुप्रकाशेन शशिना (उपलक्षिता) प्रभातकल्पा शर्वरी इव, अलक्ष्यत ।

व्याख्या—शरीरसादात् = देहकार्श्यात् । असमग्रभूषणा = असकलाभरणा-विरलालङ्कारा । लोध्रपाण्डुना = लोध्रपुष्पपाण्डुरवर्णेन । मुखेन = वदनेन । उप—

लक्षिता सा=सुदक्षिणा । विचेयतारका=परिमितनक्षत्रा । तनुप्रकाशेन=अल्प-कान्तिना । शशिना=चन्द्रमसा । (उपलक्षिता) प्रभातकल्पा=प्रभातादीषदूना । शर्वरी=रात्रिः । इव=यथा । अलक्ष्यत=अदृश्यत ।

समासः—शरीरस्य सादः शरीरसादः तस्मात् शरीरसादात् । न समग्राणि असमग्राणि, असमग्राणि भूषणानि यस्याः सा असमग्रभूषणा । लोध्रमिव पाण्डु लोध्रपाण्डु तेन लोध्रपाण्डुना । तनुः प्रकाशो यस्य स तनुप्रकाशः, तेन तनुप्रकाशेन । विचेतुं योग्या विचेयाः, विचेयाः तारका यस्याः सा विचेयतारका । ईषदसमाप्त-प्रभाता प्रभातकल्पा यद्वा प्रभातादीषदूना प्रभातकल्पा ।

भावार्थः—यथा प्रत्यूषे विरलनक्षत्रा म्लानचन्द्रा आसन्नप्रभाता निशा भाति तथैव देहदौर्बल्यात् कान्तिरेवाभूषणानि दधाना म्लानमुखचन्द्रा पाण्डुवर्णा गर्भवती राज्ञी सुदक्षिणाऽपि शुशुभे इति भावः ।

सञ्जी०—शरीरेति । शरीरस्य सादात्कार्श्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा । विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता । विरलनक्षत्रेत्यर्थः । तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शशिनोपलक्षितेपद-समाप्तप्रभाता प्रभातकल्पा । प्रभातादीषदूनेत्यर्थः । 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः । शर्वरी रात्रिरिव । अलक्ष्यत । शरीरसादादिगर्भलक्षण-माह वाग्भटः—"क्षमता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम् । जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्" । इति ॥

भाषार्थ—शरीर की कृशता के कारण अल्प भूषणों वाली, लोध्र के फूल की तरह पीले मुख वाली वह (सुदक्षिणा) विरल नक्षत्रों वाली तथा अल्प कान्ति युक्त चन्द्रमा से उपलक्षित, प्रातःकाल के समीप वाली रात्रि के समान दिखाई पड़ने लगी ॥ २ ॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—क्षितीश्वरः रहसि मृत्सुरभि तदाननम् उपाघ्राय, शुचिव्यपाये पयोमुचां पृषतैः सिक्तं वनराजिपल्वलम् उपाघ्राय करी इव तृप्तिं न आययौ ।

व्याख्या—क्षितीश्वरः=भूपतिः, राजादिलीपः । रहसि=एकान्ते । मृत्सु-रभि=मृद्गन्धमनोहरम् । तदाननं=सुदक्षिणामुखम् । उपाघ्राय=समाघ्राय । शुचिव्यपाये=ग्रीष्मापगते । पयोमुचां=मेघानाम् । पृषतैः=विन्दुभिः । सिक्तं=क्लिन्नम्, ईषदार्द्रीभूतम् । वनराजिपल्वलं=काननाल्पसरोवरम् । उपाघ्राय । करीव=हस्तीव । तृप्तिं=सन्तोषम् । न आययौ=नैव आजगाम ।

समासः—क्षितेरीश्वरः क्षितीश्वरः। मृदा सुरभि मृत्सुरभि तत् मृत्सुरभि। तस्या आननं तदाननं तत् तदाननम्। शुचेः व्यपायः शुचिव्यपायः तस्मिन् शुचिव्यपाये। वनानां राजिः वनराजिः वनराजेः पल्वलं वनराजिपल्वलं तत् वनराजिपल्वलम्। करोऽस्यास्तीति करी। पयोमुञ्चन्तीति पयोमुचः तेषां पयोमुचाम्।

भावार्थः—एकान्ते दोहृदेन कृतमृद्भक्षणगन्धवासितं सुदक्षिणामुखं समाजिघ्रतो राज्ञो दिलीपस्य आषाढारम्भेऽल्पजलवृष्टिसंसिक्तं वनस्थं स्वल्पजलाशयं समाघ्राय हस्तिन इव तृप्तिर्न बभूव। ग्रीष्मान्ते हि प्रथममेघमुक्तजलविन्दुसम्पर्काद् भुवि कश्चन विलक्षणो मनोहरो गन्ध उद्भवतीति भावः।

सञ्जी०—तदिति। क्षितीश्वरो रहसि मृत्सुरभि मृदा सुगन्धि तस्या आननं तदाननं सुदक्षिणामुखमुपाघ्राय तृप्तिं नाययौ। कः कमिव। शुचिव्यपाये ग्रीष्मावसाने। 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते। ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणि' इति विश्वः। पयोमुचां मेघानां। पृषतैर्बिन्दुभिः। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः। सिक्तमुक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी गज इव। अत्र करिवनराजिपल्वलानां कान्तकामिनीवदनसमाधिरनुसन्धेयः। गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोकप्रसिद्धमेव। एतेन दोहृदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते।

भाषार्थ—राजा दिलीप मिट्टी की गन्धवाले, रानी सुदक्षिणा के मुख को सूँघकर भी, ग्रीष्म के अन्त में मेघों की बूंदों से सींचे हुए वनमध्यगत छोटे तालाब को सूँघनेवाले हाथी के समान तृप्ति को नहीं प्राप्त कर सके॥ ३॥

दौर्हृदलक्षणे मृद्भक्षणे हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षते—

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा॥ ४॥

अन्वयः—हि दिगन्तविश्रान्तरथः तत्सुतः, मरुत्वान् दिवम् इव, भुवं भोक्ष्यते, अतः प्रथमं सा तथाविधे अभिलाषे अन्यरसान् विलङ्घ्य मनो बबन्ध।

व्याख्या—हि=यस्मात्। दिगन्तविश्रान्तरथः=अप्रतिहतस्यन्दनगतिः, चक्रवर्ती। तत्सुतः=तत्पुत्रः, गर्भे स्थितो भावी सुदक्षिणातनयः। दिवः=स्वर्गम्। मरुत्वान्=इन्द्रः। इव=यथा। भुवं=अखण्डां पृथिवीम्। भोक्ष्यते=उपभोक्ष्यते पालयिष्यति। अतः=अस्मात् कारणात्। प्रथमं=पूर्वम्। सा=सुदक्षिणा। तथाविधे=तादृशे, मृद्भक्षणरूपे। अभिलाषे=खाद्यपदार्थे। अन्यरसान्=मृत्तिकातिरिक्तानि पदार्थान्तराणि। विलङ्घ्य=विहाय। मनः=चित्तम्। बबन्ध=युयोज।

समासः—दिशामन्ता दिगन्ताः, दिगन्तेषु विश्रान्तः रथो यस्य स दिगन्तविश्रान्तरथः। तस्याः सुतः तत्सुतः। मरुतः सन्त्यस्येति मरुत्वान्। तथा विधा यस्य स तथाविधः तस्मिन् तथाविधे। अभिलष्यते इत्यभिलाषः तस्मिन् अभिलाषे। रस्यन्ते इति रसाः अन्ये च ते रसा इति अन्यरसाः, तान् अन्यरसान्।

भावार्थः—चक्रवर्ती मम सुतः स्वर्गमिन्द्र इव अखण्डं भूमण्डलं नूनं भोक्ष्यते इति विचिन्त्य गर्भिण्या सुदक्षिणाया सर्वपदार्थजातं विहाय मृद्भक्षणे एव मनोरथो बभूवेति भावः।

सञ्जी०—दिवमिति। हि यस्माद्दिगन्तविश्रान्तरथश्चक्रवर्ती तस्याः सुतस्तत्सुतः। मरुत्वानिन्द्रः। 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' इत्यमरः। दिवं स्वर्गमिव भुवं भोक्ष्यते। 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम्। अतः प्रथमं सा सुदक्षिणा तथाविधे भूविकारे मृद्रूपे। अभिलष्यत इत्यभिलाषो भोज्यवस्तु तस्मिन्। कर्मणि घञ्प्रत्ययः। रस्यन्ते स्वाद्यन्त इति रसा भोग्यार्थाः अन्ये च ते रसाश्च तान्विलङ्घ्य विहाय मनो बबन्ध। विदग्धावित्यर्थः। दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्र· भूभोगसूचनार्थत्वमुत्प्रेक्षते।

भाषार्थ—उस सुदक्षिणा का पुत्र, इन्द्र के द्वारा स्वर्ग की तरह इस पृथ्वी का उपभोग करेगा—इस कारण पहले उसने उस प्रकार की (मृद्भक्षणरूप) रुचि में अन्य रसों को छोड़कर मन लगाया ॥ ४ ॥

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—'मागधी ह्रिया किंचित् ईप्सितं मे न शंसति, (अतः) केषु वस्तुषु स्पृहावती' इति अनुवेलम् आदृतः प्रियासखी उत्तरकोसलेश्वरः पृच्छति स्म।

व्याख्या—मागधी=मगधराजपुत्री सुदक्षिणा। ह्रिया=लज्जया। किञ्चित्=किमपि। ईप्सितं=स्वाभीष्टं। मे=मह्यम्। न शंसति=न कथयति। अतः सा केषु वस्तुषु=पदार्थेषु विषयेषु। स्पृहावती=अभिलाषवती। इति=इत्थम्। अनुवेलं=प्रतिक्षणम्। आदृतः=सादरः सन्। प्रियासखीः=सुदक्षिणासहचरीः। उत्तरकोसलेश्वरः=उत्तरकोसलाधिपः, अयोध्याधिपतिः राजा दिलीपः। पृच्छति स्म=पप्रच्छ।

समासः—मगधस्यापत्यं स्त्री मागधी। स्पृहा अस्या अस्तीति स्पृहावती। वेलायामित्यनुवेलम्। प्रियायाः सख्यः प्रियासख्यः ताः प्रियासखीः; उत्तराश्च ते कोसला उत्तरकोसला उत्तरकोसलानामीश्वर उत्तरकोसलेश्वरः।

भावार्थः—लज्जावती सुदक्षिणा स्वकीयं दोहदं न मे सूचयति, तद् यूयमेव कथयत—कस्मिन् खलु वस्तुनि किलास्या अभिलाषा वर्तते इति सादरं सुदक्षिणायाः सहचरीः प्रतिक्षणं अयोध्याधिपतिः राजा दिलीपः जिज्ञासते स्म।

सञ्जी०—नेति। मगधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी सुदक्षिणा। 'द्व्यञ्मगधकलिङ्ग' इत्यण्प्रत्ययः। ह्रिया किञ्चित् किमपीप्सितमिष्टं मे मह्यं न शंसति नाचष्टे। केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुक्षणमादृत आदृतवान्। कर्तरि क्तः। 'आदृतौ सादरार्चितौ' इत्यमरः। प्रियायाः सखीः सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरो दिलीपः। पृच्छति स्म पप्रच्छ। 'लट् स्मे' इत्यनेन भूतार्थे लट्। सखीनां विश्रम्भभूमित्वादिति भावः।

भावार्थ—'रानी लज्जा से कोई इच्छा मुझसे नहीं कहती, (परन्तु) किन वस्तुओं में उनकी इच्छा रहती है?' यों बारम्बार रानी की प्यारी सखियों से राजा आदरपूर्वक पूछता था॥ ५॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥ ६॥

अन्वयः—सा दोहददुःखशीलताम् उपेत्य यद् एव वव्रे, तद् आहृतम् अप यत्। हि अधिज्यधन्वनः अस्य भूपतेः त्रिदिवेऽपि इष्टं अनासाद्यं न अभूत्।

व्याख्या—सा=सुदक्षिणा। दोहददुःखशीलतां=गर्भिणीमनोरथदुःखस्वभावताम्। उपेत्य=प्राप्य यत् एव वस्तु वव्रे=आचकाङ्क्ष। तत्=तद्वस्तु। भर्त्रा आहृतं=आनीतम्। अपश्यत्=व्यलोकयत्। हि=यतः। अधिज्यधन्वनः=आरोपितमौर्वीकस्य। अस्य भूपतेः=एतस्य राज्ञो दिलीपस्य। त्रिदिवे=स्वर्गे। अपि, किं पुनर्भूतले। इष्टं=अभिलषितम्। अनासाद्यं=अलभ्यम्। नाभूत्=न बभूव।

समासः—दुःखं शीलं यस्याः सा दुःखशीला दोहदेन दुःखशीला दोहददुःखशीला दोहददुःखशीलाया भावः दोहददुःखशीलता तां दोहददुःखशीलताम्। ज्यामधिगतमधिज्यं अधिज्यं धनुर्यस्य स अधिज्यधन्वा तस्य अधिज्यधन्वनः। आसादितुं योग्यमासाद्यं न आसाद्यमनासाद्यम्।

भावार्थः—सा सुदक्षिणा दोहदव्यथापरवशा सती अलभ्यमपि यद् वस्तु कांक्षति स्म, भर्त्रा दिलीपेन तदप्याहृतमेव ददर्श। उचितमेवैतत् महापराक्रमस्य तस्य राज्ञो दिलीपस्य त्रैलोक्येऽपि किमपि अलभ्यं नासीत् किं पुनर्भूतले। अर्थात् सर्वत्रानुल्लङ्घ्यशासनत्वाद् वीरवरस्यास्य किमप्यभीष्टमलभ्यं नासीदिति भावः।

सञ्जी०—उपेत्येति । दोहृदं गर्भिणीमनोरथः । 'दोहृदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसं चं समं स्मृतम्' इति हलायुधः । सा सुदक्षिणा दोहृदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःखशीलतां दुःखस्वभावमुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकांक्ष तदाहृतमानीतम् । भर्त्रेति शेषः । अपश्यदेव अलभतेत्यर्थः । कुतः । यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि स्वर्गेऽपीष्टं वस्त्वनासाद्यमनवाप्यं नाभूत् । किं याच्ञया ? नेत्याह–अधिज्यधन्वन इति । न हि वीरपत्नीनामलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः । अत्र वाग्भटः—"पादशोफो विदाहोऽन्ते श्रद्धा च विविधात्मिका" इति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवात्, न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात् । तदुक्तम्—"देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम् । श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ॥" अन्यत्र च—"दोहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।" इति ।

भावार्थ—गर्भिणी-मनोरथों से दुःख पाती हुई सुदक्षिणा जिस वस्तु की इच्छा करती थी वह वस्तु देखते ही देखते भूपति के द्वारा ला दी जाती थी; क्योंकि चढ़ी हुई प्रत्यञ्चायुक्त धनुषधारी राजा दिलीप को अभिलषित वस्तु स्वर्ग में भी दुर्लभ न थी ॥ ६ ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहृदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

अन्वयः—सा क्रमेण दोहृदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा (सती) पुराणपत्रापगमात् अनन्तरं सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा लता इव रराज ।

व्याख्या—सा = सुदक्षिणा । क्रमेण = क्रमशः । दोहृदव्यथां = गर्भमनोरथपीडां च । निस्तीर्य = अतिक्रम्य । प्रचीयमानावयवा = उपचीयमानाङ्गी सती । पुराणपत्रापगमात् = जीर्णपर्णपातात् । अनन्तर = पश्चात् । सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा = आविर्भूतमनोहरकिशलया । लता = वल्लरी । इव = यथा । रराज = शुशुभे ।

समासः—दोहृदेन दोहृदस्य वा व्यथा दोहृदव्यथा अथवा दोहृद एव व्यथा दोहृदव्यथा तां दोहृदव्यथाम् । प्रचीयमाना अवयवा यस्या सा प्रचीयमानावयवा । पुराणानि च तानि पत्राणि पुराणपत्राणि पुराणपत्राणामपगम इति पुराणपत्रापगमः तस्मात् पुराणपत्रापगमात् । सन्नद्धा मनोज्ञाः पल्लवा यस्या सा सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ।

भावार्थः—कालक्रमेण दोहृदक्लेशकालविगमे पीवरकलेवरा सा सुदक्षिणा तथैव शुशुभे यथा पुरातनपर्णापगमानन्तरं जायमानाभिनवकिशलया लता शोभते इति भावः ।

सञ्जी०—क्रमेणेति । सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा पुष्यमाणावयवा सती । पुराणपत्राणामपगमान्नाशादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वान्मनोज्ञाः पल्लवा यस्या सा लतेव रराज ।

भावार्थ—और वह सुदक्षिणा गर्भव्यथा को बिताकर पुष्ट अङ्गवाली होकर पुराने पत्तों के गिर जाने के बाद नवीन पत्तों से सुन्दर लता के समान सुशोभित हुई ॥ ७ ॥

लक्षणान्तरं वर्णयति—

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—दिनेषु गच्छत्सु (सत्सु) नितान्तपीवरम् आनीलमुखं तदीयं स्तनद्वयं भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियं तिरश्चकार ।

व्याख्या—दिनेषु=गर्भवासरेषु । गच्छत्सु=अपगच्छत्सु सत्सु । नितान्तपीवरम्=अतिस्थूलम् । आनीलमुखं=नितान्तनीलचूचुकम् । तदीयं=सुदक्षिणासम्बन्धि । स्तनद्वयं=पयोधरयुगलम् । भ्रमराभिलीनयोः=उपविष्टभ्रमरयोः । सुजातयोः=मनोहरयोः । पङ्कजकोशयोः=कमलमुकुलयोः । श्रियं=शोभाम् । तिरश्चकार=अधश्चकार ।

समासः—नितान्तं पीवरं नितान्तपीवरम् । आसमन्तात् नीले मुखे यस्य तत् आनीलमुखम् । स्तनयोर्द्वयं स्तनद्वयम् । भ्रमरैरभिलीनौ भ्रमराभिलीनौ तयोः भ्रमराभिलीनयोः । सुष्ठु जातौ सुजातौ यद्वा सुष्ठु शोभनं जातं जातिर्ययोस्तौ सुजातौ तयोः सुजातयोः । पङ्कजस्य कोशौ पङ्कजकोशौ तयोः पङ्कजकोशयोः ।

भावार्थः—गर्भे आदौ शरीरकार्श्यं पश्चादवयवपुष्टिरिति प्रसिद्धेः कालक्रमेण अतिविपुलं नीलाग्रभागं सुदक्षिणाकुचद्वयम् अधिष्ठितभ्रमरयोः सुन्दरयोः कमलमुकुलयोः शोभां बभार । अर्थात् सुदक्षिणास्तनौ पद्मकोशापेक्षयातिसुन्दरौ जाताविति भावः ।

सञ्जी०—दिनेष्विति । दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु सत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम् । आसमन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत् । तदीयं स्तनद्वयम् भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार । अत्र वाग्भटः-"अश्लेष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ" इति ।

भावार्थ—कुछ दिन बाद अतिस्थूल और नीले मुख वाले उस सुदक्षिणा

के दोनों स्तनों ने भ्रमरों से व्याप्त सुन्दर कमल की कलियों की कान्ति को लजा दिया ॥ ८ ॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

अन्वयः—नृपः ससत्त्वां महिषीं निधानगर्भां सागराम्बराम् इव अभ्यन्तरलीनपावकां शमीम् इव अन्तःसलिलां सरस्वतीं नदीम् इव अमन्यत ।

व्याख्या—नृपः=राजा दिलीपः । ससत्त्वां=सगर्भाम् । महिषीं=राज्ञीं सुदक्षिणाम् । निधानगर्भां=अन्तःशेवधिम् । सागराम्बरां=समुद्रवसनां भूमिम् इव । अभ्यन्तरलीनपावकां=निगूढानिलाम् । शमीमिव=शमीतरुमिव । अन्तःसलिलां=अभ्यन्तरस्थितजलाम् । सरस्वतीमिव=सरस्वतीनदीमिव । अमन्यत=उत्प्रेक्षितवान्, ज्ञातवान् ।

समासः—निधानं गर्भे यस्याः सा निधानगर्भा तां निधानगर्भाम् । सागर एवाम्बरं यस्याः सा सागराम्बरा तां सागराम्बराम् । अभ्यन्तरे लीनः पावकः यस्या सा अभ्यन्तरलीनपावका ताम् अभ्यन्तरलीनपावकाम् । सत्त्वेन सहिता ससत्त्वा तां ससत्त्वाम् । सरांसि सन्ति अस्यामिति सरस्वती ।

भावार्थः—निधानाभ्यन्तरां भुवमिव, गूढपावकां शमीमिव प्रच्छन्नप्रवाहां सरस्वतीनदीमिव तां राज्ञीं सुदक्षिणां राजा दिलीपः गर्भवती इति तर्कयामास । एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वं तेजस्वित्वं पवित्रत्वं च सूचितमिति भावः ।

सञ्जी०—निधानेति । नृपः ससत्त्वामापन्नसत्त्वां गर्भिणीमित्यर्थः । "आपन्नसत्त्वा स्यात् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी" इत्यमरः । महिषीं । निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां, सागराम्बरा समुद्रवसनाम् भूमिमिवेत्यर्थः । "भूतधात्री रत्नगर्भा जगती सागराम्बरा" इति कोशः । अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव । शमीतरौ वह्निरस्तीत्यत्र लिङ्गं 'शमीगर्भादग्निं जनयतीति' । अन्तःसलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव । अमन्यत । एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ।

भाषार्थ—राजा ने गर्भवती सुदक्षिणा को रत्न रखने वाली पृथ्वी के समान, अग्नि रखनेवाले शमी वृक्ष के समान, अन्तर्जलस्थ सरस्वती नदी के समान माना ।

प्रियाऽनुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥ १० ॥

अन्वयः—धीरः सः प्रियानुरागस्य मनःसमुन्नतेः भुजार्जितानां दिगन्तसम्पदां च धृतेः च सदृशी पुंसवनादिकाः क्रियाः यथाक्रमं व्यधत्त ।

व्याख्या—धीरः=धैर्यवान्; मनीषी । स=राजा दिलीपः । प्रियानुरागस्य=भार्याप्रीतेः । मनःसमुन्नतेः=स्वचित्तौदार्यस्य । भुजार्जितानां=बाहुबलसम्पादितानाम् । दिगन्तसम्पदां=दिगन्तविस्तीर्णसम्पत्तीनाम् । च धृतेः=पुत्रो मे भविष्यतीति सन्तोषस्य च । सदृशीः=अनुरूपाः । पुंसवनादिकाः = पुंसवनसीमन्तोन्नयनाद्याः । क्रियाः = संस्कारकर्माणि । यथाक्रमं = क्रमशः शास्त्रानुकूलम् । व्यधत्त=विदधे, कृतवान् ।

समासः—प्रियाया अनुरागः प्रियानुरागः तस्य प्रियानुरागस्य । मनसः समुन्नतिः मनःसमुन्नतिः तस्याः मनःसमुन्नतेः । दिशामन्ता दिगन्ता दिगन्तेषु सम्पदः दिगन्तसम्पदः तासां दिगन्तसम्पदाम् । क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम् । पुमान् सूयतेऽनेनेति पुंसवनं, पुंसवनम् आदिर्यासां ताः पुंसवनादिकाः ताः पुंसवनादिकाः । भुजेन अर्जिता भुजार्जिताः तासां भुजार्जितानाम् ।

भावार्थः—राजा दिलीपः सुदक्षिणानुराग-स्वविभवौदार्यसन्तोषानुरूपात् शास्त्रविधिना क्रमशः पुंसवनसीमन्तोन्नयनादिसंस्कारान् कृतवान् । तत्र विपुलं द्रव्यं व्ययीचकार, महता समारोहेण च सर्वं कृत्यमनुष्ठितवानित्यर्थः ।

सञ्जी०—प्रियेति । धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य मनसः समुन्नतेरौदार्यस्य भुजेन भुजबलेन करेण वाऽर्जितानां, न तु वाणिज्यादिना । दिगन्तेषु सम्पदा धृतेः 'पुत्रो मे भविष्यती'ति सन्तोषस्य च । 'धृतेर्योगान्तरे धैर्यं धारणाध्वरतुष्टिषु'' इति विश्वः । सदृशीरनुरूपाः । पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रिया यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदिशब्देनानवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते । अत्र "मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमायुक्तः स्यात्" इति पारस्करः । "चतुर्थेऽनवलोभनम्" इत्याश्वलायनः "षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्" इति याज्ञवल्क्यः ।

भाषार्थ—उस राजा ने पत्नी के प्रेम और मन की उदारता के अनुसार, अपने बाहु-बल से उपार्जित दिगन्तरविख्यात ऐश्वर्य के अनुसार तथा भावी पुत्र के उत्पन्न होने के सन्तोष के अनुसार पुंसवनादि संस्कारों को क्रमशः किया ।।१०।।

सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ।। ११ ।।

अन्वयः—गृहागतः नृपः सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया उपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तया ननन्द ।

व्याख्या—गृहागतः=सुदक्षिणाप्रासादोपगतः । नृपः = राजा दिलीपः । सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्=लोकपालांशानुविष्टगर्भगौरवात् । प्रयत्नमुक्तासनया= प्रयासत्यक्तासनया, कथञ्चिदायासादासनादुत्थितया । पारिप्लवनेत्रया=चञ्चल-लोचनया । तया=सुदक्षिणया । तामवलोक्य ननन्द=जहर्ष, हृष्यति स्म ।

समासः—गृहमागतः गृहागतः । सुराणामिन्द्राः सुरेन्द्राः सुरेन्द्राणां मात्राः सुरेन्द्रमात्राः सुरेन्द्रमात्राभिः आश्रितः सुरेन्द्रमात्राश्रितः सुरेन्द्रमात्राश्रितश्चासौ गर्भश्चेति सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भः गुरोर्भाव गौरवं सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भस्य गौरवं सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवं तस्मात् सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् । प्रयत्नेन मुक्त-मासनं यया सा प्रयत्नमुक्तासना तया प्रयत्नमुक्तासनया । उपचारस्य उपचारे वा अञ्जलिः उपचाराञ्जलिः उपचाराञ्जलौ खिन्नौ हस्तौ यस्याः सा उपचारा-ञ्जलिखिन्नहस्ता तया उपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया । पारिप्लवे नेत्रे यस्याः सा पारिप्लवनेत्रा तया पारिप्लवनेत्रया ।

भावार्थः—सुदक्षिणाभवनमुपगतो राजा दिलीपो लोकपालांशसमन्वितगर्भ-भारालसाम्, आदरार्थमञ्जलिवन्धखिन्नहस्ताम्, श्रमचञ्चललोचनां कथं कथमपि परित्यक्तासनां तां गर्भिणीं सुदक्षिणां दर्शं दर्शं दिलीपस्य हर्षो भवति स्म । राज्ञां शरीरे लोकपालांशप्रवेशे भगवान् मनुः—

'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।।
अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः ।।'

सञ्जी०—सुरेन्द्रेति । गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैरा श्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद्भारात्प्रयत्नेन मुक्तासनया । आसनादुत्थि-तयेत्यर्थः । उपचारस्याञ्जलावञ्जलीकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या । "चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे" इत्यमरः । तया सुदक्षिणया ननन्द । 'सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रित' इत्यत्र मनुः—"अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः" इति ।

भाषार्थ—रनिवास में जाने पर राजा दिलीप अष्टलोकपालों के अंशों को धारण किये हुए गर्भ के भार के कारण किसी तरह आसन छोड़ती हुई, प्रणाम करने के लिए अञ्जलि बाँधने में शिथिल हाथों वाली और चंचल नेत्र वाली रानी सुदक्षिणा से प्रसन्न हाते थे ।। ११ ।।

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥ १२ ॥

अन्वयः—अथ कुमारभृत्याकुशलैः आप्तैः भिषग्भिः गर्भभर्मणि अनुष्ठिते (सति) पतिः प्रतीतः (सन्) काले प्रसवोन्मुखीं प्रियाम् अभ्रितां दिवम् इव ददर्श।

व्याख्या—कुमारभृत्याकुशलैः=बालचिकित्साचतुरैः । आप्तैः=विश्वस्तैः, प्रामाणिकैः हितैषिभिश्च । भिषग्भिः = वैद्यैः । गर्भभर्मणि = गर्भपालने । अनुष्ठिते=कृते सति । पतिः=सुदक्षिणाभर्ता राजा दिलीपः । प्रतीतः=हृष्टः सन् । काले=ग्रीष्मावसाने, वर्षारम्भे, दशमे मासि च । प्रसवोन्मुखीं=आसन्नप्रसवाम् वर्षणोन्मुखीं वा प्रियां=भार्यां सुदक्षिणां अभ्रितां=सञ्जातमेघाम् । दिवं= गगनम् । ददर्श=दृष्टवान् ।

समासः—भ्रियते भृत्या कुमाराणां भृत्या कुमारभृत्या, कुमारभृत्यानां कुशलाः कुमारभृत्याकुशलाः तैः कुमारभृत्याकुशलैः । गर्भस्य भर्म गर्भभर्म तस्मिन् गर्भभर्मणि । प्रसवस्य उन्मुखी प्रसवोन्मुखी तां प्रसवोन्मुखीम् । अभ्राणि सञ्जातानि अस्या इति अभ्रिता ताम् अभ्रिताम् ।

भावार्थः—बालचिकित्साचतुरैः विश्वासिभिर्वैद्यैः परिरक्षिते गर्भे सुपुष्टे सति दशमे मासि प्रसवोन्मुखीं सुदक्षिणां वर्षारम्भकाले वर्षणोन्मुखीं मेघावृतां प्रियकरीं द्यामिव हर्षपूर्णो राजा दिलीपो ददर्शेति भावः ।

सञ्जी०—कुमारेति । अथ कुमारभृत्या बालचिकित्सा । 'संज्ञायां समजनिषद-' इत्यादिना क्यप् । तस्यां कुशलैः कृतिभिः । 'कृती कुशल इत्यपि'' इत्यमरः । आप्तैर्हितैर्भिषग्भिर्वैद्यैः । ''भिषग्वैद्यो चिकित्सके'' इत्यमरः । गर्भस्य भर्मणि । ''भरणे पोषणे भर्म'' इति हैमः । ''भृतिभर्म'' इति शाश्वतः । भृञो मनिच्प्रत्ययः । 'गर्भकर्मणि' इति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्गः । अनुष्ठिते कृते सति । काले दशमे मासि । अन्यत्र ग्रीष्मावसाने । प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम् । आसन्नप्रसवामित्यर्थः । 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गभमोचने' इत्यमरः । प्रियां भार्याम् । अभ्राण्यस्याः सञ्जातान्यभ्रिता ताम् । 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । दिवमिव । पतिभर्त्ता प्रतीतो हृष्टः सन् । 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः । ददर्श=दृष्टवान् ।

भावार्थ—वाद में बालचिकित्सा में कुशल विश्वासपात्र वैद्यों से गर्भ की पुष्टि की जानेपर राजा दिलीप ने प्रसन्न हो दशवें मास में शीघ्र पुत्र जनने वाली सुदक्षिणा को तत्काल बरसने वाले मेघोंसे व्याप्त आकाश की भांति देखा ॥१२॥

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—ततः समये शचीसमा (सा) उच्चसंश्रयैः असूर्यगैः पञ्चभिः ग्रहैः सूचितभाग्यसम्पदं पुत्रं त्रिसाधना शक्तिः अक्षयम् अर्थम् इव असूत ।

व्याख्या—ततः=तदनन्तरम् । शचीसमा=इन्द्राणीतुल्या सा सुदक्षिणा । समये=प्रसवोचिते दशमे मासि । उच्चसंश्रयैः=उच्चस्थानस्थितैः । असूर्यगैः= भास्करमप्रविशद्भिः, अनस्तमितैः । पञ्चभिः=पञ्चसंख्याकैः । ग्रहैः=बुधादिभिः खेटकैः । सूचितभाग्यसम्पदं=ज्ञापितभाग्यानुकूल्यम् । पुत्रं=तनयम् । त्रिसाधना= प्रभावोत्साहमन्त्रजनिका, शक्तिः=प्रभुशक्ति-मन्त्रशक्ति-उत्साहशक्तिरूपा । अक्षयं= अविनाशिनम्, अनन्तम् । अर्थं=पुरुषार्थचतुष्टयं द्रव्यं वा । इव=यथा । असूत= जनयामास ।

समासः—उच्चेषु संश्रयो येषां ते उच्चसंश्रयाः तैः उच्चसंश्रयैः । सूर्यं गच्छन्तीति सूर्यगाः न सूर्यगा असूर्यगाः तै असूर्यगैः । सूचिता भाग्यस्य सम्पद् यस्यासौ सूचितभाग्यसम्पत् तं सूचितभाग्यसम्पदम् । शच्या समा शचीसमा । त्रीणि साधनानि यस्याः सा त्रिसाधना । नास्ति क्षयो यस्यासौ अक्षयः तम् अक्षयम् ।

भावार्थः—यथा राज्ञो दिलीपस्य प्रभाव-मन्त्र-उत्साहजा शक्तिः धर्मकामार्था-दिकम् अक्षयम् अर्थजातमैश्वर्यं जनयति स्म तथैव सुदक्षिणापि उच्चस्थानस्थितैः अनस्तमितैः पञ्चभिर्बुधादिभिर्ग्रहैः सूचितैश्वर्यं तनयं प्रसूतवतीति भावः ।

सञ्जी०—ग्रहैरिति । ततः शच्येन्द्राण्या समा । 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः । सा सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः । 'दशमे मासि जायते' । इति श्रुतेः । उच्चसंश्रयैरुच्चसंस्थैस्तुङ्गस्थानगैरसूर्यगैरनस्तमितैः कैश्चिद् यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद्यस्य तं पुत्रम् । त्रीणि प्रभावमन्त्रो-त्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः । 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजा' इत्यमरः । अक्षयमर्थमिव । असूत । 'पूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यात्मनेपदिषु पठ्यते । अस्माद्धातोः कर्त्तरि लङ् । अत्रेदमनुसंधेयम्—"अजवृषभ-मृगाङ्गनाकुलीराझषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः । दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचाः" ॥ इति सूर्यादीनां सप्तानां ग्रहाणां मेषवृष-भादयो राशयः श्लोकोक्तक्रमविशिष्टा उच्चस्थानानि स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तम-स्थानानि च नीचानि । तत्रोच्चेष्वपि दशमादयो राशित्रिंशांशा यथाक्रममुच्चेषु

परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति जातकश्लोकार्थः । अत्रांशस्त्रिंशो भागः । यथाऽऽह नारदः—"त्रिंशद्भागात्मकं लग्नम्" इति । सूर्यप्रत्यासत्तिर्ग्रहाणामस्तमयो नाम । तदुक्तं लघुजातके—"रविणाऽस्तमयो योगो वियोगोस्तूदयो भवेत्" इति । ते च स्वोच्चस्थाः फलन्ति नास्तगा नापि नीचगाः । तदुक्तं राजमृगाङ्के—'स्वोच्चे पूर्णं स्वर्क्षकेऽर्द्धं सुहृद्भे पादं द्विड्भेऽल्पं शुभं खेचरेन्द्रः । नीचस्थायी नास्तगो वा न किञ्चित्पादं नूनं स्वत्रिकोणे ददाति" ।। इति तदिदमाह कविरुच्चसंस्थैरसूर्यगैरिति च । एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहाः स्वोच्चस्था स एव तुङ्गो भवति । तदुक्तं कूटस्थीये—"सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः । एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्तेऽतः परं दिव्याः" ।। इति तदिदमाह पञ्चभिरिति ।

भाषार्थ—उसके बाद दशवें महीने में इन्द्राणी के समान रानी सुदक्षिणा ने उच्चस्थान में स्थित सूर्य की समीपता से अस्त न हुए पाँच ग्रहों से सूचित भाग्यसम्पत्ति वाले पुत्र को प्रभाव, उत्साह और मन्त्र से उत्पन्न होने वाली शक्ति के द्वारा सम्पत्ति के समान उत्पन्न किया ।। १३ ।।

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ।। १४।।

अन्वयः—तत्क्षणं दिशः प्रसेदुः, मरुतः सुखा ववुः, अग्निः प्रदक्षिणार्चिः (सन्) हविः आददे । इत्थम् सर्वं शुभशंसि बभूव । हि तादृशां भवः लोकाभ्युदयाय भवति ।

व्याख्या—तत्क्षणं = तस्मिन् समये, बालकजन्मकाले । दिशः = आशाः । प्रसेदु, = प्रसन्ना निर्मला बभूवुः । सुखाः = सुखकरा मनोहराः । मरुतः = वायवः । ववुः = प्रवहन्ति स्म । अग्निः = हुताशनश्च । प्रदक्षिणार्चिः = प्रदक्षिणाभिमुखज्वालः । सन् । हविः = हवनीयद्रव्यं घृतचर्वादिकम् । आददे = जग्राह, स्वीचकार । इत्थं सर्वं दिगग्निवाय्वादिकं निखिलं शुभशंसि शुभसूचकं बभूव । हि = यतः तादृशां = रघुसदृशानाम् । भवः = जन्म । लोकाभ्युदयाय = जगदुन्नत्यै एव भवति ।

समासः—प्रदक्षिणमर्चिर्यस्यासौ प्रदक्षिणार्चिः । शुभं शंसितुं शीलमस्येति शुभशंसि । लोकानामभ्युदयः लोकाभ्युदयः तस्मै लोकाभ्युदयाय । ते इव पश्यन्तीति तादृशः तेषां तादृशाम् ।

भावार्थः—रघुजन्मसमये सर्वा दिशः प्रसन्ना बभूवुः, सुखकरा मन्दशीतलसुगन्धिनो वायवः प्राहवन्, अनलः प्रदक्षिणाभिमुखज्वालो भूत्वा हविर्द्रव्यं स्वीच-

कार। इत्थं तदानीं सर्वं वातावरणं मङ्गलजनकं जातम्। यतो हि रघुसमानानां महापुरुषाणां जन्म लोककल्याणायैव जायते इति भावः।

सञ्जी०—दिश इति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः। मरुतो वाताः सुखा मनोहरा ववुः। अग्निः प्रदक्षिणार्चिः सन् हविराददे स्वीचकार। इत्थं सर्वं शुभशंसि शुभसूचकं बभूव। तथाहि। तादृशां रघुप्रकाराणां भवो जन्म लोकाभ्युदयाय भवतीति शेषः। ततो देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः।

भावार्थ—उस समय दिशाएँ निर्मल हो गयीं, सुखदायक वायु बहने लगी, अग्नि प्रदक्षिणज्वाल से हवि लेने लगा। इस तरह सभी वस्तुएँ मंगलसूचक हुईं। क्योंकि ऐसे लोगों का जन्म संसार के कल्याण के लिए होता है॥ १४॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव॥ १५॥

अन्वयः—अरिष्टशय्यां परितः विसारिणा सुजन्मनः तस्य निजेन तेजसा सहसा हतत्विषः निशीथदीपाः आलेख्यसमर्पिता इव बभूवुः।

व्याख्या—अरिष्टशय्यां=सूतिकामञ्चकम्। परितः=सर्वतः। विसारिणा=प्रसरणशीलेन। सुजन्मनः=शोभनजनुषः। तस्य=सुदक्षिणासुतस्य। निजेन=नैसर्गिकेण। तेजसा=शरीरकान्त्या। सहसा=अकस्मात्। हतत्विषः=क्षीणकान्तयः। निशीथदीपाः=अर्धरात्रप्रदीपाः, आलेख्यसमर्पिता इव=चित्रलिखिता इव। बभूवुः=अजायन्त।

समासः—अरिष्टे अरिष्टस्य वा शय्या अरिष्टशय्या ताम् अरिष्टशय्याम्। विसरतीति विसारि तेन विसारिणा। सुष्ठु जन्म यस्य स सुजन्मा तस्य सुजन्मनः। निशीथस्य दीपाः निशीथदीपाः। हताः त्विषः येषां ते हतत्विषः। आलेख्ये समर्पिताः आलेख्यसमर्पिताः।

भावार्थः—रघोः जन्मकाले सूतिकागृहे स्थापिता दीपाः तस्य समन्तात् प्रसरता नैसर्गिकेण तेजसा अर्द्धरात्रेऽपि चित्रार्पिता इव मन्दतेजसो बभूवुः।

सञ्जी०—अरिष्टशय्यामिति। 'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमरः। अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां तल्पं परितोऽभितः 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया। विसारिणा सुजन्मनः शोभनोत्पत्तेः। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विषः क्षीणकान्तयो निशीथदीपा अर्द्धरात्रप्रदीपाः। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ'

इत्यमरः । आलेख्यसमर्पिताश्चित्रार्पिता इव बभूवुः । निशीथशब्दो दीपानां प्रभाऽऽधिक्यसम्भावनार्थः ।

भाषार्थ—प्रसूतिगृह के चारों ओर फैलने वाले, सुन्दर जन्म लेने वाले उस बालक के स्वाभाविक तेज से आधी रात के दीपक एकाएक हतकान्ति होकर चित्र में लिखे हुए दीप के समान हो गये ।। १५ ।।

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम् ।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥

अन्वयः—भूपतेः अमृतसम्मिताक्षरं कुमारजन्म शंसते शुद्धान्तचराय जनाय 'शशिप्रभं छत्रम् उभे चामरे च' एतत् त्रयम् एव अदेयम् आसीत् ।

व्याख्या—भूपतेः=जगतीपते राज्ञो दिलीपस्य । अमृतसम्मिताक्षरं=सुधा-मधुराक्षरम् । कुमारजन्म=बालकोत्पत्तिवृत्तान्तम् । शंसते=कथयते । शुद्धान्त-चराय=अन्तःपुरचारिणे । जनाय=लोकाय । शशिप्रभं=चन्द्रोज्ज्वलम् । छत्रं=राजचिह्नभूतम् आतपत्रम् । उभे=द्वे । चामरे=वालव्यजने च एतत् त्रयमेव=एतत् त्रितयमेव । अदेयं=असमर्पणीयम् । आसीत्=बभूव ।

समासः—शुद्धान्ते चरतीति शुद्धान्तचरः तस्मै शुद्धान्तचराय । कुमारस्य जन्म कुमारजन्म तत् कुमारजन्म । अमृतेन सम्मितानि अक्षराणि यस्मिंन् तत् अमृतसम्मिताक्षरं तत् अमृतसम्मिताक्षरम् । पुत्रस्य जन्म पुत्रजन्म तत् पुत्रजन्म । दातुं योग्यं देयं न देयमदेयम् । शशोऽस्यास्तीति शशी शशिनः प्रभेव प्रभा यस्य तत् शशिप्रभम् । भुवः पतिः भूपतिः तस्य भूपतेः ।

भावार्थः—राजा दिलीपो महदानन्दजनकस्य पुत्रजन्मसमाचारस्य सूचकेभ्यः सुहृद्बन्धुकञ्चुकि-वर्षवर-सखी-परिचारकजनेभ्यः छत्रचामरादिप्रधानराजचिह्ना-तिरिक्तं सर्वमभिलषितं धनादिकं पारितोषिकरूपेण वितरितवानिति भावः ।

सञ्जी०—जनायेति । भूपतेर्दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरममृतसमानाक्षरम् । 'सरूपसमसम्मिताः' इत्याह दण्डी । कुमारजन्म पुत्रोत्पत्तिं शंसते कथयते शुद्धान्त-चरायान्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत् । तत् किं ? शशिप्रभमुज्ज्वलं छत्रम् उभे चामरे च । छत्रादीनां राज्ञः प्रधानाङ्गत्वादिति भावः ।

भाषार्थ—राजा दिलीप के लिए 'राजकुमार का जन्म हुआ' ऐसा अमृत के समान कहने वाले रनिवास के परिचारकों के लिए चन्द्रिका के समान प्रभा, वाले छत्र और दो राजचिह्न चामर ये तीन ही वस्तुएँ न देने योग्य थी ।।१६।।

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ।। १७ ।।

अन्वयः—निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा कान्तं सुताननं पिबतः नृपस्य गुरुः प्रहर्षः इन्दुदर्शनात् महोदधेः पूरः इव आत्मनि न प्रबभूव ।

व्याख्या—निवातपद्मस्तिमितेन = वातरहितप्रदेशस्थकमलवन्निश्चलेन । चक्षुषा = नेत्रेण । कान्तं = मनोहरम् । सुताननं=पुत्रमुखकमलम् । पिबतः=सतृष्णं पश्यतः । नृपस्य=राज्ञो दिलीपस्य । गुरुः=महान् । प्रहर्षः=प्रकृष्टानन्दः । इन्दुदर्शनात् = चन्द्रावलोकनात् । महोदधेः = महासमुद्रस्य । पूर इव = जलौघ इव, आत्मनि = शरीरे । न प्रबभूव = अवस्थातुं न शशाक ।

समासः—निवाते पद्म निवातपद्मं निवातपद्मवत् स्तिमितं निवातपद्मस्तिमितं तेन निवातपद्मस्तिमितेन । नॄन् पातीति नृपः तस्य नृपस्य । सुतस्याननं सुताननं तत् सुताननम् । महांश्चासावुदधिः महोदधिः तस्य महोदधेः । इन्दोः दर्शनमिन्दुदर्शनं तस्मात् इन्दुदर्शनात् ।

भावार्थः—निश्चलाभ्यां नयनाभ्यां सुन्दरमतिशयं सुतस्यास्य सरोजं पश्यतो राज्ञो दिलीपस्य चन्द्रदर्शनात् महासागरस्येव हर्षातिरेकोऽभवत् ।

सञ्जी०—निवातेति । निवातो निर्वातप्रदेशः । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । तत्र यत् पद्मं तद्वत्स्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा नेत्रेण कान्तं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिबतस्तृष्णया पश्यतो नृपस्य गुरुरुत्कटः प्रहर्षः (कर्त्ता) इन्दुदर्शनाद् गुरुर्महोदधेः पूरो जलौघ इव आत्मनि शरीरे न प्रबभूव स्थातुं न शशाक । अन्तर्न माति स्मेति यावत् । न ह्यल्पाधारेऽधिकं मीयत इति भावः । यद्वा हर्ष आत्मनि स्वस्मिन्विषये न प्रबभूव आत्मानं नियन्तुं न शशाक । किन्तु बहिर्निर्जगामेत्यर्थः ।

भाषार्थ—वायु रहित प्रदेश में स्थित कमल के समान निर्निमेष दृष्टि से सुन्दर पुत्र के मुख को देखते हुए राजा दिलीप का महान् हर्ष चन्द्र के दर्शन से समुद्र के ज्वार के समान उनके शरीर में न समा सका ।। १७ ।।

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ।। १८ ।।

अन्वयः—सः दिलीपसूनुः तपस्विना पुरोधसा तपोवनात् एत्य अखिले जातकर्मणि कृते (सति) आकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कारः मणि इव अधिकं बभौ ।

व्याख्या—सः=प्रकृतः । दिलीपसूनुः=दिलीपतनयः । तपस्विना=प्रकृष्टतपोयुक्तेन । पुरोधसा=पुरोहितेन वसिष्ठेन महर्षिणा । तपोवनात्=धर्मारण्यात्

स्वाश्रमात् । एत्य=आगत्य । अखिले=समस्ते । जातकर्मणि=जातकर्मसंस्कारे । कृते=आचरिते सति । प्रयुक्तसंस्कारः=कृतपरिष्कारः, शाणोल्लीढः । आकरोद्भवः=खनिप्रभवः । मणिरिव=रत्नमिव । अधिकं=नितान्तम् । बभौ=चकासे ।

समासः—दिलीपस्य सूनुः दिलीपसूनुः । तपसो वनं तपोवनं तस्मात् तपोवनात् । जातस्य जाते वा कर्म जातकर्म तस्मिन् जातकर्मणि । प्रयुक्तः संस्कारो यस्य सः प्रयुक्तसंस्कारः । आकराद् उद्भवतीति आकरोद्भवः ।

भावार्थः—यथा खनिनिर्गतः स्वयं दीप्तिमानपि उत्तमजातिको मणिः शाणोल्लेखपरिष्कारेण अधिकं शोभते तथैव स्वतस्तेजस्वी दिलीपबालकः धर्मारण्यात् समागत्य महर्षिणा वसिष्ठेन कृतजातकर्मसंस्कारः सन्नतितरां शुशुभे इति भावः ।

सञ्जी०—स इति । स दिलीपसूनुः । तपस्विना पुरोधसा पुरोहितेन । "पुरोधास्तु पुरोहितः" इत्यमरः । वसिष्ठेन । तपस्वित्वात्तदनुष्ठितं कर्म सवीर्यं स्यादिति भावः । तपोवनादेत्यागत्य । अखिले समग्रे जातकर्मणि जातस्य कर्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति । प्रयुक्तः संस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः । आकरोद्भवः खनिप्रभवः । "खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्" इत्यमरः । मणिरिव । अधिकं बभौ । वसिष्ठमन्त्रप्रभावात्तेजिष्ठोऽभूदित्यर्थः । अत्र मनुः—"प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते' इति ।

भाषार्थ—वह राजा दिलीप का पुत्र तपस्वी पुरोहित वसिष्ठजी द्वारा तपोवन से आकर सविधि जातकर्म संस्कार के किये जाने पर खान से निकली और सानपर चढ़ाकर पालिश की गयी मणि के समान अधिक शोभित हुआ ॥१८॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ १९ ॥

अन्वयः—सुखश्रवाः मङ्गलतूर्यनिस्वनाः वारयोषितां प्रमोदनृत्यैः सह मागधीपतेः सद्मनि केवलं न व्यजृम्भन्त, किन्तु दिवौकसां पथि अपि (व्यजृम्भन्त)।

व्याख्या—सुखश्रवाः=कर्णसुखदाः । मङ्गलतूर्यनिस्वनाः=मङ्गलवाद्यध्वनयः । वारयोषितां=गणिकानाम् । प्रमोदनृत्यैः=आनन्दनर्तनैः । सह = साकम् । मागधीपतेः=सुदक्षिणाभर्तुः दिलीपस्य । सद्मनि = भवने । केवलमेव=मुख्यतया । न=नैव । व्यजृम्भन्त=व्यवर्द्धन्त किन्तु । दिवौकसां=देवानाम् । पथि=वर्त्मन्यपि, आकाशेऽपि व्यजृम्भन्त = व्यवर्द्धन्त ।

समासः—सुखः श्रवो येषां ते सुखश्रवाः । मङ्गलार्थं तूर्याणि मङ्गलतूर्याणि मङ्गलतूर्याणां निस्वना इति मङ्गलतूर्यनिस्वनाः । प्रमोदेन नृत्यानि प्रमोदनृत्यानि

तैः प्रमोदनृत्यैः। मगधस्यापत्यं स्त्री मागधी मागध्याः पतिः मागधीपतिः तस्य मागधीपतेः। वारस्य (जनसमूहस्य, एकदिवसस्य वा) योषितः वारयोषितः तासां वारयोषिताम्। द्यौः ओकः येषां ते दिवौकसः।

भावार्थ—पुत्रजन्ममहोत्सवावसरे सुदक्षिणापत्युः राज्ञो दिलीपस्य राजप्रासादे एव न केवलं कर्णमधुरं माङ्गलिकं नृत्यगीतवाद्यादिकं प्रारब्धम्, किन्तु स्वर्गः लोकेऽपि सदिव्यदुन्दुभिस्वनं प्रमुदिता देवा अप्सरोभिः सह नृत्यगीतादिकमकार्षुरिति भावः।

सञ्जी०—सुखेति। सुखः सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः श्रुतिसुखाः। मङ्गलतूर्यनिस्वना मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां वेश्यानाम्। 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः। प्रमोदनृत्यैर्हर्षनर्त्तनैः सह मागधीपतेर्दिलीपस्य सद्मनि केवलं गृह एव न व्यजृम्भन्त, किन्तु द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः। पृषोदरादित्वात्साधुः। तेषां पथ्याकाशेऽपि व्यजृम्भन्त। तस्य देवांशत्वाद् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः।

भाषार्थ—कान को सुख देने वाले मंगल वाद्यों की आवाज वेश्याओं के आनन्दपूर्ण नाचों के साथ सुदक्षिणा के पति राजा दिलीप के राजमहल में ही नहीं, परन्तु आकाश में भी व्याप्त हो उठी॥ १९॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥ २०॥

अन्वयः—रक्षितुः तस्य संयतः न बभूव सुतजन्महर्षितः (सन्) यं विसर्जयेत् (किन्तु) तदा स पितॄणाम् ऋणाभिधानात् बन्धनात् केवलं स्वयम् एव मुमुचे।

व्याख्या—रक्षितुः=सम्यक् प्रजापालयितुः। तस्य=राज्ञो दिलीपस्य। संयतः= कारागारनिबद्धः, चौराद्यभावात् बद्धः। न बभूव=कोऽपि नासीत्। सुतजन्महर्षितः=पुत्रोत्पत्तितोषितः सन्। यं=बद्धं वन्दिनं। विसर्जयेत्=विमोचयेत्। किन्तु स=राजा। तदा=पुत्रजन्मकाले। पितॄणां=स्वपूर्वपुरुषाणाम्। ऋणाभिधानात्=ऋणनामधेयात्। बन्धनात्=निगडात्। स्वयमेव=केवलम् एक एव स्वयम्। मुमुचे=मुक्तः।

समासः—सुतस्य जन्म सुतजन्म तेन हर्षितः सुतजन्महर्षितः। ऋणम् अभिधानं तस्य यत् ऋणाभिधानं तस्मात् ऋणाभिधानात्।

भावार्थः—दुष्टानां दमनं शिष्टानां च पालनं राज्ञामस्ति परमं कर्तव्यम्। तत् राजा दिलीपः सम्यक् सम्पादयति स्म। अतः प्रजापालननिपुण स्य तस्य राज्ये न

केऽपि चौरादयो निगडिता आसन्, यान् पुत्रजन्ममहोत्सवे स मोचयेत् अतस्तदानीं यावत् अनपत्यत्वात् स एव पितृ-ऋणेन बद्ध आसीत् किन्तु सन्तानोत्पत्त्या तस्मात् ऋणात् स एव स्वयं मुक्तोऽभूदिति भावः। तथा हि भगवती श्रुतिः— "एष वै अनृणी यः पुत्री" इति।

सञ्जी०—नेति। रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य। अत एव चौराद्यभावात् संयतो बद्धो न बभूव नाभूत्। किं तेनात आह—विसर्जयेदिति। सुतजन्मना हर्षितस्तोषितः सन् यं बद्धं विसर्जयेद्विमोचयेत्। किन्तु स राजा तदा पितॄणामृणाभिधानात्केवलमेकं यथा तथा स्वयमेव। एक एवेत्यर्थः। "केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरितः" इति शाश्वतः। मुमुचे कर्मकर्त्तरि लिट्। स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे—'एष वै अनृणी यः पुत्री' इति श्रुतिः प्रमाणम्।

भाषार्थ—उस रक्षक राजा दिलीप का कोई कैदी न था, जिसे पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में प्रसन्न होकर छोड़ते, किन्तु पितृ के ऋणरूपी बन्धन से वे अकेले स्वयं मुक्त हुए॥ २०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥ २१॥

अन्वयः—अर्थवित् पार्थिवः अयम् अर्भकः श्रुतस्य तथा च युधि परेषां अन्तं यायात् इति धातोः गमनार्थम् अवेक्ष्य आत्मसम्भवं नाम्ना रघुं चकार।

व्याख्या—अर्थवित्=शब्दार्थवेत्ता। पार्थिवः=पृथ्वीपतिः राजा दिलीपः। अयमर्भकः=एष शिशुः। श्रुतस्य=शास्त्रस्य। अन्तं=पारं, सिद्धान्तम्। यायात्=गच्छेत्। तथा=एवमेव। युधि=संग्रामे। परेषां=शत्रूणाम्। अन्तं च यायात्। इति हेतो धातोः=लघिधातोः। गमनार्थं=गमनरूपमर्थम्। अवेक्ष्य=आलोच्य। आत्मसम्भवं=पुत्रं। नाम्ना=अभिधानेन। रघुं=रघुनामानं, चकार=विदधे।

समासः—अर्थं वेत्तीति अर्थवित्। पृथिव्याः ईश्वरः पार्थिवः। गमनमेवार्थो यस्य स गमनार्थः यद्वा गमनमेवार्थो गमनार्थः तं गमनार्थम्। लङ्घते इति रघुः तं रघुम्। आत्मनः सम्भवो यस्य स आत्मसम्भवः तम् आत्मसम्वभम्।

भावार्थः—शब्दार्थयोर्ज्ञाता राजा दिलीपः शिशुरयं शास्त्रस्य सिद्धान्तं जानीयात्, संग्रामेषु शत्रून् विनाश्य संग्रामपरं गच्छेच्चेति मनसि निधाय 'द्वादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्' इति श्रुतिवचनानुसारं स्वसुतस्य अर्थवत् नाम चिकीर्षन् गत्यर्थकलघिधातुनिष्पन्नं रघुरिति नाम चकारेति भावः।

सञ्जी०—श्रुतस्येति। अर्थविच्छब्दार्थज्ञः पार्थिवः पृथ्वीश्वरो दिलीपः। अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्तं पारं यायात्। तथा युधि परेषां शत्रूणामन्तं पारं च यायात्। यातुं शक्नुयादित्यर्थः। 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ्। इति हेतोर्धातोः। 'अघिवघिलघिगत्यर्थाः' इति लघिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेक्ष्यालोच्य। आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघुं चकार। 'लङ्घिवह्योर्नलोपश्च' इत्युप्रत्यये 'वलमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम्। अत्र शङ्खः—'आशौचे व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते'।

भाषार्थ—अर्थविशेषज्ञ राजा दिलीप ने 'यह बालक शास्त्र के अन्त तक जायेगा और युद्ध में शत्रुओं का संहार करेगा' इस प्रकार लघि धातु को गमनार्थक जानकर अपने पुत्र का नाम रघु रखा ॥ २१ ॥

> पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
> पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥ २२ ॥

अन्वयः—स समग्रसम्पदः पितुः प्रयत्नात् शुभैः शरीरावयवैः हरिदश्वदीधितेः अनुप्रवेशात् बालचन्द्रमा इव दिने दिने वृद्धिं पुपोष।

व्याख्या—सः=रघुः। समग्रसम्पदः=पूर्णलक्ष्मीकस्य। पितुः=जनकस्य दिलीपस्य। प्रयत्नात्=पर्यवेक्षणात्, प्रभावात्। शुभैः=मनोहरैः। शरीरावयवैः=स्वाङ्गैः। हरिदश्वदीधितेः=सूर्यरश्मेः। अनुप्रवेशात्=अन्तःप्रवेशात्। बालचन्द्रमाः=बालेन्दुरिव। दिने दिने=प्रतिदिनम्। वृद्धिं=वर्धनम्। पुपोष=अनुदिनं ववृधे।

समासः—समग्रा सम्पद् यस्य स समग्रसम्पद् तस्य समग्रसम्पदः। शरीरस्य अवयवाः शरीरावयवाः तैः शरीरावयवैः। हरितः अश्वा यस्य स हरिदश्वा हरिदश्वस्य दीधितिः हरिदश्वदीधितिः तस्य हरिदश्वदीधितेः। बालश्चासौ चन्द्रमाः बालचन्द्रमाः।

भावार्थः—स रघुः सकलैश्वर्यसम्पन्नस्य जनकस्य प्रयत्नात् प्रत्यहं शुक्लपक्षस्य बालेन्दुः स्वस्मिन् सूर्यकिरणप्रवेशात् यथा वर्द्धते तथैव अङ्गप्रत्यङ्गैः पुष्टिं प्राप ववृधेति भावः।

सञ्जी०—पितुरिति। स रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैर्मनोहरैः। शरीरावयवैः। हरिदश्वदीधितेः सूर्यस्य रश्मेः। 'भास्वद् विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः। अनुप्रवेशाद् बालचन्द्रमा इव दिने दिने प्रतिदिनम्। 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्। वृद्धिं पुपोष। अत्र

वराहसंहितावचनम्—"सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् । क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ।।" इति ।

भाषार्थ—वह बालक संपूर्ण संपत्तिवाले पिता राजा दिलीप के प्रयत्न से सुन्दर अङ्गों द्वारा सूर्य-किरणों के प्रवेश से बाल चन्द्रमा के समान प्रति दिन बढ़ने लगा ।। २२ ।।

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥ २३ ॥

अन्वयः—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा शचीपुरन्दरौ जयन्तेन यथा तथा तत्समौ सा मागधी नृपः च तत्सदृशेन सुतेन ननन्दतुः ।

व्याख्या—उमावृषाङ्कौ=पार्वतीशङ्करौ । शरजन्मना=कार्तिकेयेन । यथा=यादृक् । ननन्दतुः । शचीपुरन्दरौ=इन्द्राणीमहेन्द्रौ । जयन्तेन=जयन्तनाम्ना स्वपुत्रेण । यथा=यादृक् ननन्दतुः । तथा=तेनैव प्रकारेण । तत्समौ=उमाशङ्कर-शचीपुरन्दरसदृशौ । सा=प्रसिद्धा मागधी=मगधराजपुत्री सुदक्षिणा । नृपः=राजा दिलीपश्च । ननन्दतुः=मुमुदतुः ।

समासः—वृषः अङ्को यस्य स वृषाङ्कः उमा च वृषाङ्कश्च उमावृषाङ्कौ । शरेभ्यः शरेषु वा जन्म यस्य स शरजन्मा तेन शरजन्मना । शची च पुरन्दरश्च शचीपुरन्दरौ । ताभ्यां सदृशः तत्सदृशः तेन तत्सदृशेन । ताभ्यां समौ तत्समौ ।

भावार्थः—यथा कार्तिकेयोत्पत्त्या भगवन्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ प्रसन्नौ जातौ, यथा वा जयन्ताख्यसुतोत्पत्त्या इन्द्राणी-महेन्द्रौ प्रसन्नावभूतां तथैव कार्तिकेय-जयन्ततुल्यपुत्ररघुजन्मना पार्वतीन्द्राणीवत् सुदक्षिणादिलीपावपि प्रसन्नौ बभूवतुः ।

सञ्जी०—उमेति । उमावृषाङ्कौ पार्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना कार्त्तिकेयेन । 'कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । शची-पुरन्दरौ जयन्तेन जयन्ताख्येन सुतेन । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । तथा तत्समौ ताभ्यामुमावृषाङ्काभ्यां च समौ समानौ सा मागधी नृपश्च तत्सदृशेन ताभ्यां कुमारजयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः । मागधी प्राग्व्याख्याता ।

भाषार्थ—जिस प्रकार पार्वती और शिवजी कार्तिकेय से, इन्द्राणी और इन्द्र जयन्त से प्रसन्न हुए उसी प्रकार उनके समान रानी और राजा रघु नामक पुत्र से प्रसन्न हुए ।। २३ ।।

रथाङ्गनाम्नोरिव भाववन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥

अन्वयः—रथाङ्गनाम्नोः इव तयोः भावबन्धनं परास्पराश्रयं यत् प्रेम बभूव, तत् एकसुतेन विभक्तम् अपि परस्परस्य उपरि पर्यचीयत ।

व्याख्या—रथाङ्गनाम्नोरिव=चक्रवाकयोरिव । तयोः=सुदक्षिणादिलीपयोः भाववन्धनं=हृदयाकर्षकम् । परस्पराश्रयं=अन्योऽन्यालम्वकम् । यत् प्रेम=अतिशयिता प्रीतिः । वभूव=आसीत् । तत्=प्रेम । एकसुतेन=एकेन पुत्रेण रघुणा । विभक्तमपि=कृतसंविभागमपि । परस्परस्योपरि=अन्योऽन्यस्योपरि । पर्यचीयत=ववृधे ।

समासः—रथस्याङ्गं रथाङ्गं रथाङ्गस्य नाम ययोः तौ रथाङ्गनामानौ (रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ) तयोः रथाङ्गनाम्नोः । भावस्य बन्धनं भावबन्धनम् । यद्वा भावो बध्यतेऽनेनेति भावबन्धनम् । परस्परमाश्रयो यस्य तत् परस्पराश्रयम् । एकश्चासौ सुतश्च एकसुतः तेन एकसुतेन ।

भावार्थः—चक्रवाकदम्पत्योरिव सुदक्षिणादिलीपयोः यत् गाढं प्रेम आसीत् तत् रघुणा पुत्रेण जननीजनकयोः प्रेमविभागं विधाय स्वांशग्रहणेऽपि न्यूनं नाभवत् प्रत्युत उत्तरोत्तरं प्रावर्द्धतैव तथा च स्नेहवता प्रियेण पुत्रेण कृतविभागमपि तयोः प्रीतिरनुदिनं परपरस्योपरि ववृधे एव नाणुरपि कृशीभूतेति भावः ।

सञ्जी०—रथाङ्गेति । रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकौ 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः । तयोरिव तयोर्दम्पत्योर्भाववन्धनं हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयमन्योन्यविषयं यत्प्रेम बभूव तदेकेन केवलेन ताभ्यामन्येन वा । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । सुतेन विभक्तमपि कृतविभागमपि परस्परस्योपरि पर्यचीयत ववृधे । कर्मकर्त्तरि लिट् । अकृत्रिमत्वात्स्वयमेवोपचितमित्यर्थः । यदेकाधारं वस्तु तदाधारद्वये विभज्यमानं हीयते । अत्र तु तयोः प्रागेकैकर्तृकमेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत । प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः ।

भाषार्थ—चकवा और चकई के समान सुदक्षिणा और दिलीप का हृदयाकर्षक पारस्परिक प्रेम एक पुत्र में बँट जाने पर भी एक दूसरे के ऊपर बढ़ाता गया ।

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ २५ ॥

अन्वयः—स अर्भकः धात्र्या प्रथमोदितं वचः उवाच तदीयाम् अङ्गुलिम् अवलम्ब्य ययौ, प्रणिपातशिक्षया नम्रः अभूत्, च तेन पितुः मुदं ततान ।

व्याख्या—सः अर्भकः = बालको रघुः । धात्र्या = उपमात्र्या । प्रथमोदितं = प्रथमतया उपदिष्टम् । वचः = वचनम् । उवाच = जगाद । तदीयां = धात्रीसम्बन्धिनीम् । अङ्गुलिं = करशाखाम् । अवलम्ब्य = गृहीत्वा, आश्रित्य । ययौ = जगाम । प्रणिपातशिक्षया = प्रणामदीक्षया । नम्रः = नमनशीलः । अभूत् = संवृत्तः । च । तेन = तथाविधेन व्यापारेण । पितुः = जनकस्य राज्ञो दिलीपस्य । मुदं = हर्षम् । ततान = वर्द्धयामास ।

समासः—प्रथमम् उदितं प्रथमोदितं तत् प्रथमोदितम् । तस्या इयं तदीया तां तदीयाम् । प्रणिपातस्य शिक्षा प्रणिपातशिक्षा तया पणिपातशिक्षया ।

भावार्थः—रघुः धात्र्युक्तं 'बा-बा, मा-मा, पा-पा' इत्यादिवचनमनुवदन्, तदंगुलिमाश्रित्य स्खलत्पदं चलन् गुरुणा नृत्यादि शिक्षयाऽवबोधितः सन् प्रणामाभिनयं विदधानो राज्ञो दिलीपस्यानन्दादिकं जनयामासेति भावः ।

सञ्जी०—उवाचेति । सोऽर्भकः शिशुः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः । शावकः शिशुः' इत्यमरः । धात्र्योपमात्रा । 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः । प्रथममुदितमुपदिष्टं वच उवाच । तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च । प्रणिपातस्य शिक्षयोपदेशेन नम्रोऽभूच्च । इति यत्तेन पितुर्मुदं ततान ।

भाषार्थ—वह बालक धाय से पहले सिखाये हुए वचन बोलने लगा, उसकी अङ्गुली पकड़कर चलने लगा और प्रणाम करने की शिक्षा से नम्र होने लगा, उससे राजा दिलीप के आनन्द को बढ़ाने लगा ॥ २५ ॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥

अन्वयः—शरीरयोगजैः सुखैः त्वचि अमृतं निषिञ्चन्तम् इव तं अङ्कम् आरोप्य उपान्तसम्मीलितलोचनः नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ।

व्याख्या—शरीरयोगजैः = स्ववपुःसंयोगजन्यैः । सुखैः = आनन्दैः । त्वचि = त्वगिन्द्रिये, स्वकलेवरे । अमृतं = पीयूषम् । निषिञ्चन्तं = वर्षन्तमिव । तं = रघुम् । अङ्कं = उत्सङ्गम् । आरोप्य = संस्थाप्य । उपान्तसम्मीलितलोचनः = प्रान्तनिमीलितनयनः सन् । नृपः = राजा दिलीपः । चिरात् = चिरकालेन । सुतस्पर्शरसज्ञतां = पुत्रस्पर्शरसज्ञताम् । ययौ = प्राप ।

समासः—शरीरस्य योगः शरीरयोगः शरीरयोगात् जातानि शरीरयोगजानि तैः शरीरयोगजैः । उपान्ते सम्मिलिते उपान्तसम्मिलिते उपान्तसम्मिलिते लोचने यस्य स उपान्तसम्मिलितलोचनः सुतस्य । स्पर्शः सुतस्पर्शः सुतस्पर्शस्य

रसः सुतस्पर्शरसः सुतस्पर्शरसं जानातीति सुतस्पर्शरसज्ञः सुतस्पर्शरसज्ञस्य भावः सुतस्पर्शरसज्ञता तां सुतस्पर्शरसज्ञताम् ।

भावार्थः—राजा दिलीपः स्वकं बालकं रघुं स्वस्याङ्के उपवेश्य तदङ्गस्पर्श-सुखमनुभवन् परमः प्रसन्नो भवति स्मेति भावः ।

सञ्जी०—तमिति । शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि त्वगिन्द्रयेऽमृतं निषिञ्चन्तं वर्षन्तमिव तं पुत्रमङ्कमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयोः सम्मीलितलोचनः सन् नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ । रसः स्वादः ।

भाषार्थ—राजकुमार के शरीर के सम्पर्क से उत्पन्न आनन्द से स्पर्शेन्द्रिय पर मानो अमृत बरसाते हुए उसको गोद में बैठाकर आँख बन्द किये हुए राजा ने बहुत समय के वाद पुत्र के स्पर्श-सुख का अनुभव किया ।। २६ ।।

अमंस्त चानेन परार्घ्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥ २७ ॥

अन्वयः—स्थितेः च अभेत्ता (दिलीपः) परार्घ्यजन्मना अन्वयं प्रजानां पतिः गुणाग्र्यवर्तिना स्वमूर्तिभेदेन आत्मनः सर्गम् इव स्थितिमन्तम् अमंस्त ।

व्याख्या—स्थितेः=मर्यादायाः । अभेत्ता=अभञ्जकः, रक्षकः, स राजा दिलीपः । परार्घ्यजन्मना=श्रेष्ठजनुषा । अनेन=रघुणा । अन्वयं=वंशम् । प्रजानां पतिः=लोकानां प्रभुर्ब्रह्मा । गुणाग्र्यवर्तिना=सत्त्वगुणप्रधानेन । स्वमूर्तिभेदेन=स्वावतारान्तेन । विष्णुना । सर्गं=सृष्टिम् । स्थितिमन्तं=स्थायिनम् । अमंस्त=अमन्यत ।

समासः—भेत्तीति भेत्ता न भेत्ता अभेत्ता । परार्घ्यं जन्म यस्य स परार्घ्य-जन्मा तेन परार्घ्यजन्मना । स्वस्य मूर्तिः स्वमूर्तिः स्वमूर्तेर्भेदः स्वमूर्तिभेदः तेन स्वमूर्तिभेदेन । गुणेषु अग्र्यः गुणाग्र्यः गुणाग्र्येण वर्तते तच्छीलः गुणाग्र्यवर्ती तेन गुणाग्र्यवर्तिना ।

भावार्थः—रजोगुणप्रधाने हि ब्रह्मदेवो जगद् निर्मिमीते, सत्त्वगुणप्रधाने भगवान् विष्णुश्च तत् पालयतीत्यस्ति मर्यादा । तथा च यथा रजोविशिष्टो ब्रह्मा स्वावतारान्तरेण सत्त्वगुणेन विष्णुना स्वीयां सृष्टिं स्थितिमतीं मन्यते तथैव राजा दिलीपोऽपि श्रेष्ठजन्मना विनयादिश्रेष्ठसत्त्वगुणप्रधानेन निजदेहान्तरेण रघुणा स्वकीयं कुलं स्थायिनममन्यतेति भावः ।

सञ्जी०—अमंस्तेति । स्थितेरभेत्ता मर्यादापालकः स नृपः परार्घ्यजन्म-नोत्कृष्टजन्मनाऽनेन रघुणाऽन्वयं वंशम् । प्रजानां पतिर्ब्रह्मा । गुणाः सत्त्वादयः । तेष्वग्र्येण मुख्येन सत्त्वेन वर्त्तते व्याप्रियत इति गुणाग्र्यवर्ती तेन । स्वस्य मूर्ति-

भेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं सृष्टिमिव स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तममंस्त मन्यते स्म। मन्यतेरनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः। अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि। तत्र रघुपक्षे—गुणा विद्याविनयादयः। 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे। स्तम्बे सत्वादिसंध्यादिविद्याऽऽदिहरितादिषु।'' इति विश्वः। शेषं सुगमम्।

भाषार्थ—मर्यादापालक राजा दिलीप ने उत्कृष्ट जन्मवाले विद्याविनयादि गुणों से सम्पन्न, अपने शरीर से उत्पन्न इस रघु से अपने वंश को उसी प्रकार स्थिर माना जिस प्रकार ब्रह्मा सत्त्वगुणप्रधान अपने अवतारभेद विष्णु से अपनी सृष्टि को प्रतिष्ठित मानते हैं॥ २७॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ २८॥

अन्वयः—वृत्तचूलः सः चलकाकपक्षकैः सवयोभिः अमात्यपुत्रैः अन्वितः लिपेः यथावत् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेन समुद्रम् इव आविशत्।

व्याख्या—वृत्तचूलः=जातचूडाकरणसंस्कारः। सः=रघुः। चलकाकपक्षकैः=लोलशिखण्डकैः। सवयोभिः=समानवयस्कैः। अमात्यपुत्रैः=मन्त्रिपुत्रैः। अन्वितः=युक्तः। लिपेः=वर्णमालायाः। यथावद्ग्रहणेन=सम्यक्परिज्ञानेन। वाङ्मयं=प्रबन्धजातम्। नदीमुखेन=सरिद्द्वारेण। समुद्रं=सागरम्। इव=यथा। आविशत्=ईषत् प्रविवेश। शब्दप्रपञ्चं जग्राह।

समासः—वृत्ता चूडा यस्य स वृत्तचूलः। चलाः काकपक्षा येषां ते चलकाकपक्षकाः तैः चलकाकपक्षकैः। समानः वयो येषां ते सवयसः तैः सवयोभिः। अमात्यानां पुत्रा अमात्यपुत्राः तैः अमात्यपुत्रैः। वागेव वाङ्मयं यद्वा वाचां विकारो वाङ्मयं तत् वाङ्मयम्। नद्या मुखं नदीमुखं तेन नदीमुखेन।

भावार्थः—चूडाकरणसंस्कारानन्तरं यथा मकरादयो जलजन्तवो नदीमुखेन समुद्रं प्रविशन्ति तथैवायं रघुरपि समानवयस्कैः मन्त्रिपुत्रैः सह पञ्चाशद्वर्णात्मिकां वर्णमालां ज्ञात्वा वर्णमालाद्वारा समस्तं शब्दजातं प्राविशत् जग्राह।

सञ्जी०—स इति। ''चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यः श्रुतिचोदनात्॥' इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तचूलो निष्पन्नचूडाकर्मा सन्। डलयोरभेदः। स रघुः। ''प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्याऽऽरम्भं च कारयेत्।'' इति वचनात्पञ्चमे वर्षे। चलकाकपक्षकैश्चञ्चलशिखण्डकैः। 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः। सवयोभिः स्निग्धैः।

'वयस्यः स्निग्धः' इत्यमरः। अमात्यपुत्रैरन्वितः सन्। लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद्ग्रहणेन सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्द-जातम् नद्या मुखं द्वारम्। 'मुखं तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोः' इति यादवः। तेन कश्चिन्मकरादिः समुद्रमिव। आविशत्प्रविष्टः। ज्ञातवानित्यर्थः।

भाषार्थ—चूडाकर्म के बाद वह रघु चञ्चल जुल्फों से युक्त समान अवस्था के मन्त्रि-पुत्रों के साथ वर्णमाला का यथाविधि परिचय पाकर शब्दशास्त्र में प्रविष्ट हुआ जिस प्रकार नदी के मुहाने से घड़ियाल आदि समुद्र में प्रवेश करते हैं।।२८।।

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अबन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥ २९॥

अन्वयः—अथ विधिवत् उपनीतं गुरुप्रियम् एवं विपश्चितो गुरवः विनिन्युः। ते अत्र अवन्ध्ययत्ना च बभूवुः हि क्रिया वस्तूपहिता प्रसीदति।

व्याख्या—अथ=गर्भैकादशे वर्षे। विधिवत्=यथाविधि। उपनीतं=कृतोपनयनसंस्कारम्। गुरुप्रियं=आचार्यस्नेहभाजनम्। एनं=रघुम्। विपश्चितः=विद्वांसः। गुरवः=आचार्याः। विनिन्युः=शिक्षयामासुः। ते=गुरवः। अत्र=रघौ। अबन्ध्ययत्नाः=सफलप्रयत्नाश्च। बभूवुः=अभूवन्। हि=यतः। क्रिया=शिक्षा। वस्तूपहिता=सत्पात्रे न्यस्ता सती। प्रसीदति=सफला भवत्येव।

समासः—विधिमर्हतीति विधिवत्। गुरूणां प्रियः गुरुप्रियः तं गुरुप्रियम्। न बन्ध्यः अवन्ध्यः अबन्ध्यः यत्नो येषां ते अन्बध्ययत्नाः। वस्तुनि उपहिता वस्तूपहिता।

भावार्थः—गर्भादेकादशे वर्षे शास्त्रविधिपूर्वकमुपनयनसंस्कारसंस्कृतं रघुं विद्वांसः आचार्याः शिक्षयामासुः। तस्मिन् रघौ च तेषां शिक्षा सफला बभूव। यतो हि योग्यपात्रे प्रदत्ता शिक्षा नूनमोजस्विनी जायतेति भावः।

सञ्जी०—अथेति। "गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः॥" इति मनुस्मरणादथ गर्भादेकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं रघुं विपश्चितो विद्वांसो गुरवो विनिन्युः शिक्षितवन्तः। ते गुरवोऽत्रास्मिन् रघावबन्ध्याश्च बभूवुः। तथाहि। क्रिया शिक्षा। 'क्रिया तु निष्कृतौ शिक्षाचिकित्सोपायकर्मसु' इति यादवः। वस्तुनि पात्रभूत उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति फलति। 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्' इति कौटिल्यः।

भाषार्थ—विधिपूर्वक यज्ञोपवीत हुए गुरुप्रिय उस राजकुमार रघु को विद्वान् गुरुजन शिक्षा देने लगे। और वे लोग इस राजकुमार के प्रति सफल भी हुए। क्योंकि सुपात्र को दी हुई शिक्षा सफल होती है॥ २९॥

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥ ३० ॥

अन्वयः—उदारधीः स समग्रैः धियः गुणैः चतुरर्णवोपमाः चतस्रः विद्याः हरिताम् ईश्वरः पवनातिपातिभिः हरिद्भिः (चतस्रः) दिशः इव क्रमात् ततार ।

व्याख्या—उदारधीः==उत्कृष्टबुद्धिः । सः=रघुः । समग्रैः=सकलैः । धियः=बुद्धेः । गुणैः=सुश्रूषादिभिः । चतुरर्णवोपमाः=युगसागरोपमाः । चतस्रः चतुःसंख्याकाः । विद्याः=आन्विक्षिवयाद्याश्चतस्रो विद्याः । हरितां=दिशाम् । ईश्वरः=प्रभुः सूर्यः । पवनातिपातिभिः=वायुवेगैः । हरिद्भिः=अश्वैः । चतस्र दिश इव । क्रमात्=क्रमेण । ततार=उदतरत् ।

समासः—उदारा धीर्यस्यासौ उदारधीः । चत्वारः अर्णवा उपमा यासां ताः चतुरर्णवोपमाः ताः चतुरर्णवोपमाः । पवनमतिपतितुं शीलं ग्रेषां ते पवनातिपातिनः तैः पवनातिपातिभिः ।

भावार्थः—यथा भगवान् भास्करः अतितीव्रवेगशालिभिः अश्वैः चतस्रो दिशः क्रमशः उल्लङ्घयति तथैवातिप्रतिभाशाली रघुरपि गुरोः सुश्रूषादिभिर्बुद्धिगुणैः चतुःसमुद्रसमा दुर्ग्राह्या आन्विक्षिक्यादयश्चतस्रो विद्याः क्रमात् समुत्तीर्णवानिति भावः ।

सञ्जी०—धिय इति । अत्र कामन्दकः—'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीर्गुणाः ॥' इति । 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥' इति च । उदारधीरुत्कृष्टबुद्धिः । स रघुः समग्रैर्धियो गुणैः । चत्वारोऽर्णवा उपमा यासां ताश्चतुरर्णवोपमाः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । चतस्रो विद्याः । हरितां दिशामीश्वरः सूर्यः पवनातिपातिभिर्हरिद्भिर्निजाश्वैः । 'हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति कोशः । चतस्रो दिश इव । क्रमात्ततार । चतुरर्णवोपमत्वं दिशामपि द्रष्टव्यम् ।

भावार्थ—विमलबुद्धि उस बालक रघु ने बुद्धि के समग्र गुणों से चारों समुद्रों के समान चारों विद्याओं को क्रम से पार कर लिया । जिस प्रकार दिशाओं के प्रति सूर्य वायु से अधिक वेगशाली अपने घोड़ों से चार दिशाओं को पार करते हैं ॥ ३० ॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—स मेध्यां रौरवीं त्वचं परिधाय मन्त्रवत् अस्त्रम् पितुः एव अशिक्षत। तद्गुरुः एकपार्थिवः केवलम् न अभूत्, क्षितौ सः एकधनुर्धर अपि (अभूत्)।

व्याख्या—स=रघुः। मेध्यां=शुद्धाम्। रौरवीं=रुरुसम्बन्धिनीम्। त्वचं=चर्म। परिधाय=वसित्वा, धारयित्वा। मन्त्रवत्=समन्त्रकम्। अस्त्रं=ब्रह्माग्नेयास्त्रादिकम्। पितुः=स्वजनकात् दिलीपादेव। अशिक्षत=अभ्यस्तवान्। यतः तद्गुरुः=तत्पिता दिलीपः। एकपार्थिवः=अद्वितीयो राजा। केवलं—एव न अभूत्, अपितु क्षितौ=पृथिव्याम्। एकधनुर्धरोऽपि=अद्वितीयो धानुष्कोऽपि अभूत्।

समास—मेधमर्हतीति मेध्या तां मेध्याम्। रुरोरियं रौरवी तां रौरवीम्। मन्त्राः सन्त्यस्य मन्त्रवत् तत् मन्त्रवत्। तस्य गुरुः तद्गुरुः एकश्चासौ पार्थिवः एकपार्थिवः। धरतीति धरः धनुषः धरः धनुर्धरः एकश्चासौ धनुर्धर एकधनुर्धरः।

भावार्थः—रघुः सब्रह्मचर्यं कृष्णाजिनं परिधाय स्वपितुर्दिलीपादेव मन्त्रग्रहणपूर्वकं सकलान्यस्त्राणि शिक्षतवान्। यतो हि स दिलीपः पृथिव्यां केवलमद्वितीयराजैव नासीत् किन्तु तदानीमप्रतिमधानुष्कोऽप्यासीदिति भावः।

सञ्जी०—त्वचमिति। स रघुः। "कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः। वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमादिकानि च॥" इति मनुस्मरणान्मेध्यां शुद्धां रौरवीं रुरुसम्बन्धिनीम्। 'रुरुर्महाकृष्णसारः' इति यादवः। त्वचं चर्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत्समन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिकं पितुरेवोपाध्यायादशिक्षताभ्यस्तवान्। 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानसंज्ञा। पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति—नेति। तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिवः केवलं पृथिवीश्वर एव नाभूत्, किन्तु क्षितौ स दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत्।

भाषार्थ—उस रघु ने पवित्र कृष्ण-मृग के चर्म को धारण करके पिता से ही मन्त्रों के साथ अस्त्रों को सीखा। उनके पिता पृथ्वी में अद्वितीय चक्रवर्ती ही नहीं, धनुर्धारी भी थे॥ ३१॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥ ३२॥

अन्वयः—रघुः क्रमात् महोक्षताम् स्पृशन् वत्सतरः इव, द्विपेन्द्रभावं श्रयन् कलभः इव यौवनभिन्नशैशवः (सन्) गाम्भीर्यमनोहरं वपुः पुपोष।

व्याख्या—रघुः=दिलीपपुत्रः। क्रमात्=क्रमेण। यौवनभिन्नशैशवः=तारुण्यनिरस्तबालभावः। सन् महोक्षतां=महावृषभताम्। स्पृशन्=गच्छन्। वत्सतरः=बालवत्स इव। द्विपेन्द्रभावं=गजयूथपतित्वम्। श्रयन्=व्रजन्। कलभ

इव=हस्तिशिशुरिव । गाम्भीर्यमनोहरं=अचाञ्चल्यसुन्दरम् । वपुः=देहम् । पुपोष=बभार ।

समासः—महांश्चासौ उक्षा च महोक्षः तस्य भावः महोक्षता तां महोक्षताम् । द्विपानामिन्द्रः द्विपेन्द्रः द्विपेन्द्रस्य भावः द्विपेन्द्रभावः तं द्विपेन्द्रभावम् । यौवनेन भिन्नं शैशवं यस्य स यौवनभिन्नशैशवः । गम्भीरस्य भावः गाम्भीर्यं गाम्भीर्येण मनोहरं गाम्भीर्यमनोहरं तत् गाम्भीर्यमनोहरम् ।

भावार्थः—यथा बालो वत्सो क्रमशः महावृषभो, भवति, यथा वा गजशिशुः क्रमेण महागजराजो जायते तथैव रघुरपि निजगाम्भीर्येण मनोहरं शरीरमाश्रयन् पुष्टोऽभवत् ।

सञ्जी०—महोक्षतामिति । रघुः क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् । महानुक्षा महोक्षो महर्षभः 'अचतुरविचतुरः–' इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता तां स्पृशन्गच्छन्वत्सतरो दम्य इव । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभावं महागजत्वं श्रयन्व्रजन्कलभः करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ।

भावार्थ—वृषभत्व को प्राप्त होते हुए बछड़े के समान, गजत्व को पहुँचते हुए हाथी के बच्चे के समान रघु क्रम से यौवन द्वारा बालकपन दूर होने पर अपने गम्भीर और सुन्दर शरीर को पुष्ट करने लगे ॥ ३२ ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अथ गुरुः अस्य गोदानविधेः अनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । नरेन्द्रकन्याः तम् दक्षसुताः तमोनुदम् इव सत्पतिम् अवाप्य आबभुः ।

व्याख्या—अथ=अन्तरम् । गुरुः==राजा दिलीपः । अस्य=रघोः । गोदानविधेः=केशान्तसंस्कारस्य । अनन्तरं=पश्चात् । विवाहदीक्षां=विवाहसंस्कारम् । निरवर्तयत्==सम्पादितवान् । दक्षसुताः=दक्षकन्याः अश्विन्यादयः । तमोनुदं=अन्धकारापनोदकं चन्द्रमसमिव । नरेन्द्रकन्या=राजसुताः रघुभार्याः । तं=रघुम् । सत्पतिं=अनुरूपं योग्यं पतिम् । प्राप्य=लब्ध्वा । आबभुः=शुशुभिरे ।

समासः—गावः केशा, दीयन्ते खण्ड्यन्ते अस्मिन् संस्कारे इति गोदानं गोदानस्य विधिः गोदानविधिः तस्य गोदानविधेः । नराणामिन्द्राः नरेन्द्राः नरेन्द्राणां

कन्या नरेन्द्रकन्याः। सच्चासौ पतिरिति सत्पतिः। तमो नुदति इति तमोनुत् तं तमोनुदम्। दक्षस्य सुता दक्षसुता ताः दक्षसुताः।

भावार्थः—राजा दिलीपः द्वाविंशे वर्षे केशान्तसंस्कारानन्तरं रघोः राजकुमारीभिः सह विवाहसंस्कारं कृतवान्। राजकन्यकाः एवं योग्यं पतिं प्राप्य अश्विन्यादयो दक्षकन्यकाः अन्धकारापनोदकं चन्द्रमसं लब्ध्वा इवात्यन्तं मोदमवापुः।

सञ्जी०—अथेति। "गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदर्षिभेदयोः। स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि। पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु॥' इति केशवः। गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्त्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते। तदुक्तं मनुना—"केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥" इति। अथ गुरुः पिता 'गुरुः गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः। अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत्, कृतवानित्यर्थः। अथ नरेन्द्रकन्यास्तं रघुम् दक्षस्य सुता रोहिण्यादयस्तमोनुदं चन्द्रमिव। 'तमोनुदोऽग्निचन्द्रार्काः' इति विश्वः। सत्पतिमवाप्यावभुः रघुरपि तमोनुत्। अत्र मनुः—"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमाविशेत्' इति।

भावार्थ—तब दिलीप ने कुमार का केशान्त संस्कार के बाद विवाह कर दिया। राजकन्याएँ उस उत्तम पति को पाकर दक्षप्रजापति की पुत्रीवत् सुशोभित हुई॥ ३३॥

सम्प्रति यौवराज्ययोग्यतामाह—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथाऽपि नीचैर्विनयाददृश्यत॥ ३४॥

अन्वयः—युवाः युगव्यायतबाहु अंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः रघुः वपुःप्रकर्षात् गुरुम् अजयत्। तथापि (सः) विनयात् नीचैः अदृश्यत।

व्याख्या—युवा=तरुणः। युगव्यायतबाहुः=युगाख्यरथाङ्गसमदीर्घबाहुः। अंसलः=पीवरस्कन्धः, बलवान्। कपाटवक्षः=कपाटवद्विशालवक्षःस्थलः। परिणद्धकन्धरः=विशालग्रीवः। रघुः=दिलीपपुत्रः। वपुःप्रकर्षात्=शरीरोन्नत्यात्। गुरुं=पितरं दिलीपम्। यद्यपि अजयत्==जितवान्। तथापि=एवमपि। स विनयात्=प्रश्रयात्, नम्रतया। नीचैः=अल्पकः, न्यग्भूत एव अदृश्यत=लोकैर्व्यलोक्यत।

समासः—युगवद् व्यायतौ बाहू यस्य स. युगव्यायतबाहुः। कपाटमिव वक्षो

यस्य स कपाटवक्षाः। परिणद्धा कन्धरा यस्य स परिणद्धकन्धरः। वपुषः प्रहर्षः वपुःप्रहर्षः तस्मात् वपुःप्रहर्षात्। प्रशस्तौ अंसौ अस्त्यस्य इति अंसलः।

भावार्थः—यद्यपि यौवनावस्थापन्नतया रघुः हृष्टपुष्टाङ्गो जातः, वक्षःस्थलमस्य विशालं जातं, भुजौ लम्बायमानावभूताम्, ग्रीवा च महती बभूव। दिलीपस्य तु वार्द्धक्यप्रायात् कलेवरं शिथिलमिवाभवत् तथापि रघुः सुशिक्षितत्वात् दिलीपसमक्षे विनयादिना लघुः प्रतीयते स्मेति भावः।

सञ्जी०—युवेति। युवा युगो नाम धुर्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः। 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु' इत्यमरः। युगवद् व्यायतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः। अंसावस्य स्त इत्यंसलः, बलवान् मांसलश्चेति वृत्तिकारः। 'बलवान्मांसलोऽसलः' इत्यमरः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः। कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरो विशालग्रीवः। 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः। रघुर्वपुषः प्रकर्षादाधिक्याद्यौवनकृताद् गुरुं पितरमजयत्। तथाऽपि विनयात् नम्रत्वेन नीचैरल्पकोऽदृश्यत। अनेनानौद्धत्यं च विवक्षितम्।

भाषार्थ—युवा, जुआ की तरह लम्बी भुजावाले, बली, किवाड़ के समान चौड़ी छातीवाले और चौड़े कन्धोंवाले रघु ने शरीर की उत्कृष्टता से पिता को जीत लिया तो भी वे नम्रता से छोटे दिखाई पड़ते थे॥ ३४॥

सम्प्रति तस्य यौवराज्यमाह—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥ ३५॥

अन्वयः—ततः आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीं प्रजानां धुरं लघयिष्यता नृपेण 'असौ निसर्गसंस्कारविनीतः' इति युवराजशब्दभाक् चक्रे।

व्याख्या—ततः = तदनन्तरम्। आत्मना = स्वयम्। चिरं = चिरकालपर्यन्तम्। धृतां = धारिताम्। नितान्तगुर्वी = अतिदुर्वहाम्। प्रजानां = लोकानां, प्रजापालनात्मिकाम्। धुरं = भारम्। लघयिष्यता = लघूकरिष्यता। नृपेण = राज्ञा। असौ = रघुः। निसर्गसंस्कारविनीतः = सहजशास्त्राभ्यासनम्रो जातः। इति = अतो हेतोः। युवराजशब्दभाक् = युवराजशब्दभूषितः। चक्रे = कृतः।

समासः—नितान्तं गुर्वी नितान्तगुर्वी तां नितान्तगुर्वीम्। लघुं करिष्यन् इति लघयिष्यन् तेन लघयिष्यता। निसर्गश्च संस्कारश्च निसर्गसंस्कारौ निसर्गसंस्काराभ्यां विनीतः निसर्गसंस्कारविनीतः। युवा चासौ राजा चेति युवराजः युवराजस्य शब्दः युवराजशब्दः तं भजतीति युवराजशब्दभाक्। नॄन्पातीति नृपः तेन नृपेण।

भावार्थः—ततो विशालं प्रशासनभारं बहुदिनं स्वस्मिन् वर्तमानं लघुं कर्तु-कामनया राजा दिलीपेन शास्त्राभ्यासादिना विनम्रो रघुः युवराजपदेऽभिषिक्त इति भावः।

सञ्जी०—तत इति। तत आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम्। 'वोतो गुण-वचनात्' इति ङीष्। 'प्रजानां धुरं पालनप्रयासं लघयिष्यता लघुं करिष्यता। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति लघुशब्दाण्णिच्, ततो 'लटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। नृपेण दिलीपेनासौ रघुर्निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र इति हेतोः। युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तः 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्ययः। चक्रे कृतः। "द्विविधो विनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च" इति कौटिल्यः। तदुभयसम्पन्नत्वात्पुत्रं युवराजं चकारेत्यर्थः। अत्र कामन्दकः—"विनीयोपग्रहान्भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान्। अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्॥" इति।

भाषार्थ—तब स्वयं बहुत दिनों से धारण किये हुए महान् प्रजापालन के भार को हल्का करने की इच्छा करते हुए दिलीप ने 'यह रघु स्वभाव और शास्त्राभ्यास से नम्र है, ऐसा समझकर उसे युवराज पदसे विभूषित किया॥३५॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम्।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम्॥ ३६॥

अन्वयः—गुणाभिलाषिणी श्रीः नरेन्द्रमूलायतनात् अनन्तरं युवराजसंज्ञितं तदास्पदम् कमलात् (श्रीः) नवावतारम् उत्पलम् इव अंशेन अगच्छत्।

व्याख्या—गुणाभिलाषिणी=विनयादिगुणलुब्धा। श्रीः = राजलक्ष्मीः। नरेन्द्रमूलायतनात्=दिलीपनृपरूपप्रधानस्थानात्। अनन्तर=सन्निहितम्। युव-राजसंज्ञितं=युवराजाख्यम्। तदास्पदं=रघुरूपं स्थानम्। कमलात्=चिरोत्पन्नात् पद्मात्। नवावतारं = अभिनवोत्पन्नम्। उत्पलमिव=पद्ममिव। अंशेन= मात्रया। अगच्छत्=जगाम।

समासः—मूलं च तत् आयतनं नरेन्द्र एव मूलायतनमिति नरेन्द्र-मूलायतनं तस्मात् नरेन्द्रमूलायतनात्। न विद्यते अन्तरं यस्य स अनन्तरः तम् अनन्तरम्। युवराज इति संज्ञा सञ्जाता अस्येति युवराजसंज्ञितः तं युवराज-संज्ञितम्। गुणान् अभिलषति इति गुणाभिलाषिणी। नवः अवतारो यस्य तत् नवावतारं तत् नवावतारम्,। स अस्त्यास्पदमिति तदास्पदं तत् तदास्पदम्

भावार्थः—यथा लता स्वभावो हि योषितो निकटस्थे एवानुरज्यते, कमला-

ल्याकमलापि सौरभ्यसौन्दर्यादिगुणयोगाद् विशिष्टं नूतनोद्भूतं कमलं स्वनिवासभूतं पुरातनं पद्मं विहाय अंशेन प्रयाति तथैव राजलक्ष्मीरपि स्त्रीस्वभावाच्चाञ्चल्यात् । नवानुरागिणी राजनीव युवराजेऽपि किञ्चिदिवागच्छत् । अर्थात् दिलीपरूपमूलस्थानात् युवराजपदास्पदं रघुमंशेनाश्रितवतीति भावः ।

सञ्जी०—नरेन्द्रेति । गुणान्विनयादीन्सौरभ्यादींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी श्री राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात् । अपादानात् । अनन्तरं संनिहितम् । युवराज इति संज्ञाऽस्य सञ्जाता युवराजसंज्ञितम् । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । आत्मनः पदं स्थानमास्पदम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम् । कमलाच्चिरोत्पन्नात् नवावतारमचिरोत्पन्नमुत्पलमिव । अंशेनागच्छत् । स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ।

भाषार्थ—गुणों की इच्छा रखने वाली राजलक्ष्मी राजारूपी मुख्य स्थान से समीपस्थ युवराज पदवी वाले रघुरूपी अपने स्थान को अंश से पुराने कमल से नये खिले हुए कमल के समान गयी ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सारथिना वायुना विभावसुः इव, घनव्यपायेन गभस्तिमान् इव, कटप्रभेदेन करी इव, तेन पार्थिवः अतितरां सुदुःसहः बभूव ।

व्याख्या—सारथिना=सहायभूतेन । वायुना=पवनेन । विभावसुः=अनल इव । घनव्यपायेन=जलधरविनाशेन । गभस्तिमान्=रश्मिमान् सूर्य इव । कटप्रभेदेन=मदोदयेन । करीव=हस्तीव । पार्थिवः=भूपतिः, राजा दिलीपः । तेन=रघुणा सहायेन । अतितरां=नितराम् । सुदुःसहः=असह्यः । बभूव=अभूत् ।

समासः—घनानां व्यपायः घनव्यपायः तेन घनव्यपायेन । गभस्तयोऽस्य सन्तीति गभस्तिमान् । कटस्य प्रभेदः कटप्रभेदः तेन कटप्रभेदेन । करोऽस्यास्तीति करी ।

भावार्थः—यथा वायुसहयोगेन वह्निर्बलीयान् भवति, शरत्समयमासाद्य भास्करः तीव्रतापो जायते, मदोद्भेदसमये च गजो दुःसहो भवति तथैव सहकारिणा रघुणा राजा दिलीपोऽपि शत्रूणां मदोददयेन दुःसहो बभूवेति भावः ।

सञ्जी०—विभावसुरिति । सारथिना सहायभूतेन । एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम् । वायुना विभावसुर्वह्निरिव । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः ।

घनव्यपायेन शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान्सूर्य इव। कटो गण्डः। 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः। तस्य प्रभेदः स्फुटनम्। मदोदय इत्यर्थः। तेन करीव पार्थिवो दिलीपस्तेन रघुणाऽतितरामत्यन्तं सुदुःसहः सुष्ठ्वसह्यो बभूव।

भाषार्थ—सहायक वायु से अग्निसमान, शरत्काल में सूर्य के समान, गण्डस्थल के मद से हाथी के समान राजा दिलीप अपने को अजेय समझने लगे ॥३७॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः॥ ॥३८॥

अन्वयः—शतक्रतूपमः स राजसुतैः अनुद्रुतं धनुर्धरं तं होमतुरङ्गरक्षणे नियुज्य एकेन अपूर्णं क्रतूनां शतम् अपविघ्नम् (यथा स्यात् तथा) आप।

व्याख्या—शतक्रतूपमः = इन्द्रसदृशः। सः = राजा दिलीपः। राजसुतैः = नृपपुत्रैः। अनुद्रुतं = अनुगतम्। धनुर्धरं = चापधारिणम्। तं = रघुम्। होमतुरङ्गरक्षणे = अश्वमेधाश्वपरिरक्षणे। नियुज्य = योजयित्वा। एकेन = एकसंख्याकेन। अपूर्णं = विकलम्। क्रतूनां = अश्वमेधयज्ञानाम्। शतं = शतकम्। अपविघ्नं = निर्विघ्नम्। आप = लेभे।

समासः—होमस्य तुरङ्गाः होमतुरङ्गाः होमतुरङ्गस्य रक्षणं होमतुरङ्गरक्षणं तस्मिन् होमतुरङ्गरक्षणे। धरतीति धरः धनुषो धरः धनुर्धरः तं धनुर्धरम्। राज्ञां सुताः राजसुताः तैः राजसुतैः। शतक्रतुरुपमा यस्य सः शतक्रतूपमः। अपगता विघ्ना यस्मिन् कर्मणि तत् अपविघ्नम्।

भावार्थः—इन्द्रपराक्रमो राजा दिलीपः अश्वमेधीयाश्वसंरक्षणे राजकुमारैरनुगतं तं रघुं नियोज्य अश्वमेधानां यज्ञानामेकोनशतं निर्विघ्नमन्वतिष्ठदिति भावः।

सञ्जी०—नियुज्येति। शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य सः शतक्रतूपमः स दिलीपः। 'शतं वै तुल्या राजपुत्रा देवा आशापालाः' इत्यादिश्रुत्या। राजसुतैरनुद्रुतमनुगतं धनुर्धरं तं रघुं होमतुरङ्गस्य रक्षणे नियुज्य। एकेन क्रतुनाऽपूर्णमेकोनं क्रतूनामश्वमेधानां शतमपविघ्नमपगतविघ्नं यथा तथाऽऽप।

भाषार्थ—इन्द्रतुल्य उस राजा दिलीप ने राजकुमारों के साथ धनुर्धारी उस युवराज को यज्ञ के घोड़े की रक्षा करने में नियुक्त कर एक कम सौ अर्थात् निन्यानवे यज्ञों को निर्विघ्न समाप्त किया ॥ ३८ ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥३९॥

अन्वयः—ततः परं यज्वना तेन पुनः मखाय उत्सृष्टं अनर्गलं तुरङ्गं शक्रः गूढविग्रहः (सन्) धनुर्भृतां रक्षिणाम् अग्रतः एव जहार किल।

व्याख्या:—ततःपरं = एकोनशतक्रतुसमाप्त्यनन्तरम् । यज्वना=यागशीलेन, विधिनेष्टवता । तेन = दिलीपेन । पुनः = भूयोऽपि । मखाय=यज्ञं कर्तुम् । उत्सृष्टं= विसृष्टं,मुक्तम् । अनर्गलं = बन्धनरहितम् । तुरङ्गं=अश्मेधीयाश्वम् । धनुर्भृतां= धानुष्काणाम् । रक्षिणां=तुरङ्गरक्षकाणाम् । अग्रतः=पुरत एव । शक्रः = इन्द्र गूढविग्रहः = प्रच्छन्नशरीरः सन् । जहार=जह्रे । किल = खलु ।

समासः—नास्ति अर्गला यस्यासौ अनर्गलः तं अनर्गलम् । गूढो विग्रहो यस्यासौ गूढविग्रहः । धनुर्बिभ्रतीति धनुर्भृतः तेषां धनुर्भृताम् ।

भावार्थः—पुनरपि राजा दिलीपः शततममश्वमेधं यज्ञं कर्तुं राजपुत्रैरनुगतं रघुमेव रक्षिणं विधाय बन्धनविहीनमश्वं विससर्ज किन्तु देवराज इन्द्रः प्रच्छन्न-रूपेण उपस्थाय रक्षकाणामग्रत एव तमश्वमेधीयमपहरदिति भावः ।

सञ्जी०—तत इति । ततः परमेकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिने-ष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी । उत्सृष्टं मुक्तमनर्गलमप्रतिबन्धम् । अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । 'अपर्यावर्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन् । जहार किल । किलेत्यैतिह्ये ।

भाषार्थ—उसके बाद यज्ञ करनेवाले उस राजा दिलीप के, फिर यज्ञ के लिए छोड़े गये अप्रतिहतगति घोड़े को इन्द्र ने छिपकर धनुर्धारी रक्षकों के सामने ही हरण कर लिया ॥ ३९ ॥

विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

अन्वयः—तत् कुमारसैन्यं सपदि विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितम् (सत्) स्थितम् च । अथ च श्रुतप्रभावा यदृच्छया आगता । नन्दिनी (नाम) वसिष्ठधेनुः ददृशे ।

व्याख्या—तत्=पूर्वोक्तम् । कुमारसैन्यं=रघुसेनभटाः । सपदि=सहसा । विषादलुप्तप्रतिपत्ति=शोकाकुलम्, किंकर्तव्यविमूढम् । विस्मितं=अश्वापहरण-चकितं च सत् । स्थितं=अवतस्थे । अथ=अनन्तरम् । श्रुतप्रभावा=आकर्णित-माहात्म्या । यदृच्छया=स्वेच्छया । आगता = उपस्थिता । वसिष्ठधेनुः= वसिष्ठहोमधेनुः । नन्दिनी—नन्दिनी नाम्नी सौरभेयी । ददृशे=दृष्टा । च ।

समासः—विषादेन लुप्ता प्रतिपत्तिः यस्य तत् विषादलुप्तप्रतिपत्ति । कुमारस्य सैन्यं कुमारसैन्यम् । श्रुतः प्रभावो यस्या सा श्रुतप्रभावा । वसिष्ठस्य धेनुः वसिष्ठधेनुः ।

भावार्थः—अकस्मात् अश्वस्यादर्शनेन विकलीभूय तिष्ठत्सु सर्वेषु आकर्णितमहिमा भगवती वसिष्ठधेनुः नन्दिनी सहसैवोपस्थिता ।

सञ्जी०—विषादेति । तत्कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि । विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः । तदुक्तम्—"विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः" इति । तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्त्तव्यज्ञानं यस्य तत्तथोक्तम् । विस्मितमश्वनाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्याविष्टं सत् । स्थितं तस्थौ । अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छयाऽऽगता । रघोः स्वप्रसादलब्धत्वादनुजिघृक्षयेति भावः । नन्दिनी नाम वसिष्ठधेनुश्च ददृशे । द्वौ चकारावविलम्बसूचकौ ।

भावार्थ—एकाएक मनोरथ के भङ्ग होने से किंकर्त्तव्यविमूढ होकर वह कुमा' की सेना चकित होकर खड़ी रही । तब सुने हुए प्रभावशाली, अपनी इच्छा से आयी हुई नन्दिनी नामक वसिष्ठ की गौ दिखाई पड़ी ।। ४० ।।

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ।। ४१ ।।

अन्वयः—सतां पुरस्कृतः दिलीपनन्दनः पुण्येन तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य अतीन्द्रियेषु भावेषु अपि उपपन्नदर्शनः बभूव ।

व्याख्या—सतां=सज्जनानाम् । पुरस्कृतः=पूजितः । दिलीपनन्दनः=दिलीपपुत्रो रघुः । पुण्येन=पवित्रेण । तदङ्गनिस्यन्दजलेन=नन्दिनीदेहनिःसृततोयेन, मूत्रेण । लोचने=नयने । प्रमृज्य=प्रक्षाल्य । अतीन्द्रियेषु=इन्द्रियातीतेषु, परोक्षेषु । भावेषु=पदार्थेषु अपि । उपपन्नदर्शनः=अधिगतसाक्षात्कारशक्तिः । इन्द्रदर्शनक्षमः । बभूव=अभवत् ।

समासः—तस्या अङ्गं तदङ्गं तदङ्गस्य निस्यन्दः तदङ्गनिस्यन्दः तदङ्गनिस्यन्द एव जलमिति तदङ्गनिस्यन्दजलम् तेन तदङ्गनिस्यन्दजलेन । इन्द्रियाणि अतिक्रान्ता अतीन्द्रियाः तेषु अतीन्द्रियेषु । दिलीपस्य नन्दनः दिलीपनन्दनः । उपपन्नं दर्शनं यस्य स उपपन्नदर्शनः ।

भावार्थः—पुण्येन नन्दिनीमूत्रेण नेत्रे प्रक्षाल्य सज्जनादृतो दिलीपपुत्रो रघुः दर्शनातीतेषु अपि पदार्थेषु दिव्यदर्शनशक्तिसम्पन्नो बभूवेति भावः ।

सञ्जी०—तदङ्गेति । सतां पुरस्कृतः पूजितो दिलीपनन्दनो रघुःपुण्येन तस्या नन्दिन्या यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रवः स एव जलम् । मूत्रमित्यर्थः । तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा अतीन्येिष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्विती-

यया' इति समासः। द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधा द्विशेष्यनिघ्नत्वम्। भावेष्वपि वस्तुषूपपन्नदर्शनः सम्पन्नासाक्षात्कारशक्तिर्बभूव।

भावार्थ—सज्जनों से सम्मानित दिलीपकुमार रघु, उसके अंग से निकले पवित्र मूत्र से आँखों को धोकर, अतीन्द्रिय पदार्थों को भी देखने वाले हो गये ॥ ४१ ॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥ ४२ ॥

अवन्यः—नरदेवसम्भवः पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं रथरश्मिसंयतं अश्वं हरन्तं पर्वतपक्षशातनं देवं पूर्वतः ददर्श।

व्याख्या—नरदेवसम्भवः=दिलीपपुत्रः। सः=रघुः। पुनः पुनः=भूयो भूयः। सूतनिषिद्धचापलं=भृशं सारथिनिषिद्धाचाञ्चल्यम्। रथरश्मिसंयतं=स्यन्दन रज्जुबद्धम्। अश्वम्=अश्वमेधीयतुरङ्गम्। हरन्तं=अपहरन्तं, चोरयन्तम्। पर्वतपक्षशातनं=शैलपक्षच्छेदनोद्यतम्। देवं=इन्द्रम्। पूर्वतः=पूर्वस्यां दिशि। ददर्श=दृष्टवान्।

समासः—नरेषु देवः नरदेवः नरदेवात् सम्भवो यस्य स नरदेवसम्भवः। चपलस्य भावः चापलं सूतेन निषिद्धं चापलं यस्य स सूतनिषिद्धचापलः तं सूतनिषिद्धचापलम्। रथस्य रश्मयः रथरश्मयः रथरश्मिभिः संयतः रथरश्मि-संयतः तं रथरश्मिसंयतम्। पर्वतानां पक्षाः पर्वतपक्षाः पर्वतपक्षान् सातयतीति पर्वतपक्षशातनः तं पर्वतपक्षशातनम्।

भावार्थः—प्राप्तदिव्यदृष्टिः दिलीपपुत्रो रघुः पूर्वस्यांदिशि मुहुर्मुहुः सारथिना वार्यमाणचाञ्चल्यं रथप्रग्रहनिबद्धमश्वमपयन्तं महेन्द्रमवलोकयामास।

सञ्जी०—स इति। नरदेवसम्भवः स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितोद्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। संयतं बद्धमश्वं हरन्तं पर्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवमिन्द्रं पूर्वतः पूर्वस्यां दिशि ददर्श।

भाषार्थ—राजा दिलीप के पुत्र उस रघु ने बार-बार सारथि द्वारा रोके गये चपलतावाले और रथ की रस्सी में बँधे हुए घोड़े को हरकर ले जाते हुए, पहाड़ों के पंख काटनेवाले इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा ॥ ४२ ॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥

अन्वयः—रघुः तं अनिमेषवृत्तिभिः अक्ष्णां शतैः च हरिभिः वाजिभिः तं हरिं विदित्वा एनं गगनस्पृशा धीरेण स्वरेण (एव) निवर्तयन् इव अवोचत् ।

व्याख्या—रघुः=दिलीपपुत्रः । तम्=अश्वहर्तारम् । अनिमेषवृत्तिभिः=निर्निमेषव्यापारैः । अक्ष्णां शतैः=नेत्राणां सहस्रेण । हरिभिः=हरिद्वर्णैः । वाजिभिः=घोटकैश्च । हरिं=इन्द्रम् । विदित्वा=ज्ञात्वा । एनं=इन्द्रम् । गगनस्पृशा=व्योमव्यापिना । धीरेण=गम्भीरेण । स्वरेण=ध्वनिना । निवर्तयन्निव=परावर्तयन्निव । अवोचत्=उक्तवान् ।

समासः—निमेषस्य वृत्तिः निमेषवृत्तिः अविद्यमाना निमेषवृत्तिः येषां तानि अनिमेषवृत्तीनि तैः अनिमेषवृत्तिभिः । गगनं स्पृशतीति गगनस्पृक् तेन गगनस्पृशा ।

भावार्थः—रघुः निर्निमेषैः लोचनसहस्रैः हरिद्वर्णैरश्वैश्च इन्द्रोऽयमिति मत्वा तमश्वापहारकं गम्भीरेण स्वरेणेन्द्रं परावर्तयन्निवाब्रवीदिति भावः ।

सञ्जी०—शतैरिति । रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैर्हरिभिर्हरिद्वर्णैः । 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' इति विश्वः । वाजिभिरश्वैश्च हरिमिन्द्रं विदित्वा 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्वः । एनमिन्द्रं गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत् ।

भावार्थ—रघु ने पलक न गिरने वाली सैकड़ों आँखों से और हरे रंग के घोड़ों से उन्हें इन्द्र समझकर उनको आकाशस्पर्शी गम्भीर आवाज से लौटाते हुए की तरह पुकारा ॥ ४३ ॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र ! सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे देवेन्द्र ! मनीषिभिः त्वम् एव मखांशभाजां प्रथमः (इति) सदा निगद्यसे (तथापि स त्वम्) अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ?

व्याख्या—हे देवेन्द्र !=हे महेन्द्र ! मनीषिभिः=विद्वद्भिः । त्वमेव=भवानेव । मखांशभाजां=यज्ञभागभुजां देवानां । सदा=सर्वदा । प्रथमः=आद्यः मुख्य इति । निगद्यसे=कथ्यसे । तथापि स भवान् । अजस्रदीक्षाप्रयतस्य=नित्ययज्ञदीक्षाप्रसक्तस्य, यज्ञशीलस्य । मद्गुरोः=मम पितुः दिलीपस्य । क्रियाविघाताय=यज्ञनाशाय, यज्ञं विहन्तुम् । कथं प्रवर्तसे=कथङ्कारं प्रवृत्तो भवसि ?

समासः—देवानामिन्द्रः देवेन्द्रः तत्सम्बुद्धौ देवेन्द्र ! । मखस्य अंशा मखांशाः

मखांशान् भजन्ते इति मखांशभाजः तेषां मखांशभाजाम् । अजस्रं दीक्षा अजस्र-दीक्षा अजस्रदीक्षायां प्रयतः अजस्रदीक्षाप्रयतः तस्य अजस्रदीक्षाप्रयतस्य । मम गुरुः मद्गुरुः तस्य मद्गुरोः । क्रियाया विघातः क्रियाविघातः तस्मै क्रियाविघाताय ।

भावार्थः—हे देवराज ! भवान् हि यज्ञभागभोगिनामग्रणीः, भवतैव च यज्ञाः संरक्षणीयाः किन्तु सर्वदा यज्ञदीक्षायां तत्परस्य मे जनकस्य यज्ञविनाशाय विपरीतं कर्म कुरुषे इति किमेतत् ?

सञ्जी०—मखांशेति । हे देवेन्द्र ! मनोषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभाग-भुजां प्रथमः सदा निगद्यसे कथ्यसे । तथाप्यजस्रदीक्षायां नित्यदीक्षायां प्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय । क्रतुविघाताय । क्रियां विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । कथं प्रवर्तसे ? ।

भाषार्थ—हे देवराज इन्द्र ! विद्वानों द्वारा आप यज्ञ के भाग को ग्रहण करनेवालों में प्रधान माने गये हैं । तब निरन्तर यज्ञ में प्रवृत्त मेरे पिता के कर्म को बिगाड़ने के लिए आप क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं ? ।। ४४ ।।

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतोविधिः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—त्रिलोकनाथेन दिव्यचक्षुषा त्वया मखद्विषः सदा ननु नियम्याः । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु स्वयम् अन्तरायः भवसि चेत् विधिः च्युतः ।

व्याख्या—त्रिलोलनाथेन = त्रैलक्यरक्षकेन । दिव्यचक्षुषा=अतीन्द्रियार्थ-दर्शिना, दिव्यदृष्टिना । त्वया=भवता, भगवता । मखद्विषः=यज्ञविरोधिनः । सदा=सर्वदा । नियम्याः = दण्डनीया । एव । ननु = निश्चयेन । चेत्=यदि । सः= मखद्विषो नियन्ता । त्वम्=भवान् । विपरीतं=विरुद्धम् । धर्मचारिणां=पुण्य-शीलानाम् यजमानानाम् । कर्मसु=यज्ञादिषु । स्वयम्=आत्मनैव । अन्तरायः= विघ्नः । भवसि=सम्पद्यते । तर्हि विधिः=अनुष्ठानम्, यज्ञादिविधिः । च्युतः=क्षतः, नष्ट एव, लोपमेव गच्छेत् ।

समासः—त्रयाणां लोकानां नाथः त्रिलोकनाथः तेन त्रिलोकनाथेन । मखान् द्विषन्तीति मखद्विषः । नियन्तुं योग्या नियम्या । दिव्यानि चक्षूंषि यस्यासौ दिव्य-चक्षुः तेन दिव्यचक्षुषा । धर्मं चरन्ति तच्छीलाः धर्मचारिणः तेषां धर्मचारिणाम् ।

भावार्थ—दिव्यदृष्टिना परोक्षार्थदर्शिना त्रैलोक्यनाथेन भवता यज्ञविघातका नूनं दण्डनीया एव, तद् भवान् यदि स्वयं धार्मिकाणां धर्माचरणे यज्ञे विघ्नमा-चरसि चेत् तर्हि नष्टा शुभानि कर्माणि यज्ञविलोपश्च स्यादिति भावः ।

सञ्जी०—त्रिलोकेति । त्रयाणां लोकानां नाथस्त्रिलोकनाथः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तेन त्रैलोक्यनियामकेन । दिव्यचक्षुषाऽतीन्द्रियार्थदर्शिना त्वया मखद्विषः क्रतुविघातकाः सदा नियम्या ननु शिक्ष्याः खलु । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु क्रतुषु स्वयमन्तरायो विघ्नो भवसि चेत् । विधिरनुष्ठानं च्युतः क्षतः । लोके सत्कर्मकथैवास्तमियादित्यर्थः ।

भावार्थ—तीनों लोकों के अधीश्वर, दिव्यनेत्र आपको यज्ञ विध्वंस करनेवालों को सदा दण्ड देना चाहिए । यदि आप ही धर्मपरायण मनुष्य के यज्ञादि कर्मों में स्वयं विघ्न रूप से उपस्थित हो रहे है तो पुण्यकर्म नष्ट हुआ ही है ।।४५।।

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ।। ४६ ।।

अन्वयः—हे मघवन् ! तत् महाक्रतोः अग्र्यम् अङ्गम् अमुम् तुरङ्गम् प्रतिमोक्तुम् अर्हसि । हि श्रुतेः पथः दर्शयितारः ईश्वरा मलीमसाम् पद्धतिं न आददते ।

व्याख्या—हे मघवन् !=हे इन्द्र ! तत्=तस्मात् कारणात् । महाक्रतोः=अश्वमेधस्य । अग्र्यं=मुख्यम् । अङ्गं=साधनम् । अमुं=पुरोवर्तिनम् । तुरङ्गं=अश्वम् । प्रतिमोक्तुं=परित्यक्तुम् । अर्हसि=योग्योऽसि । हि श्रुतेः=वेदस्य । पथः=मार्गस्य । दर्शयितारः प्रदर्शकाः, सन्मार्गप्रदर्शकाः । ईश्वरा=महान्तः, भवादृशाः । मलीमसां=मलिनाम् । पद्धतिं=मार्गम् । नाददते=नानुसरन्ति, नैवाङ्गीकुर्वते ।

समासः—अग्रे भवम् अग्र्यम् । महांश्चासौ क्रतुश्चेति महाक्रतु तस्य महाक्रतोः।

भावार्थः—अतो हे महेन्द्र ! अश्वमेधस्य यज्ञस्य प्रधानमङ्गभूतममुमश्वं प्रत्यर्पय, वैदिकमार्गप्रदर्शका भवादृशा मलिनं मार्गं नाङ्गीकुर्वन्तीति भावः ।

सञ्जी०—तदङ्गमिति । हे मघवन् ! तत्तस्मात्कारणान्महाक्रतोरश्वमेधस्याग्र्यं श्रेष्ठमङ्गं साधनममु तुरङ्गं प्रतिमोक्तुं प्रतिदातुमर्हसि । तथाहि श्रुतेः पथो दर्शयितारः सन्मार्गप्रदर्शका ईश्वरा महान्तो मलीमसां मलिनां पद्धतिं मार्गं नाददते न स्वीकुर्वते । असन्मार्गं नावलम्बन्त इत्यर्थः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः ।

भावार्थ—इसलिए हे देवराज ! अश्वमेध के मुख्य साधनभूत इस घोड़े को छोड़ दीजिए; क्योंकि वे मार्गप्रदर्शक बड़े लोग कुमार्ग नहीं चलते ।। ४६ ।।

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ।।४७।।

अन्वयः—इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचो निशम्य दिवौकसाम् अधिपतिः सविस्मयः (सन्) रथं निवर्तयामास, उत्तरं च प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ।

व्याख्या—इति=एवं प्रकारेण । रघुणा=युवराजेन दिलीपसूनुना । समीरितं=कथितम् । प्रगल्भं=प्रतिभायुक्तम् । वचः=भाषितम् । निशम्य=श्रुत्वा । दिवौकसां=अमराणाम् । अधिपतिः=नायको महेन्द्रः । सविस्मयः=आश्चर्यान्वितः सन् । रथं=स्यन्दनम् । निवर्तयामास=परावर्तयाञ्चकार । च=किञ्च । उत्तरं=प्रतिवचः । प्रतिवक्तुं=कथयितुम् । प्रचक्रमे=प्रारेभे ।

समासः—विस्मयेन सहितः सविस्मयः । द्यौः ओको येषां ते दिवौकसः तेषां दिवौकसाम् ।

भावार्थः—एवं युवराजस्य रघोः गम्भीरं वचनं निशम्य सञ्जातविस्मयो महेन्द्रः नैजं स्यन्दनं निरवर्तयन् रघुं प्रत्युवाच चेति भावः ।

सञ्जी०=इतीति । इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचं निशम्याकर्ण्य । दिवौकसः स्वर्गौकसः । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । येषामधिपतिर्देवेन्द्रो रघुप्रभावात्सविस्मयः सन् । रथं निवर्तयामास । उत्तरं च प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ।

भाषार्थ—इस प्रकार रघु के कहे हुए धृष्टतायुक्त वचन को सुनकर इन्द्र ने चकित होकर रथ लौटा दिया और उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ४७ ॥

यदात्थ राजन्यकुमार ! तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८॥

अन्वयः—हे राजन्यकुमार ! यत् आत्थ तत् तथा । यशोधनैः तु परतः यशः रक्ष्यम् । भवद्गुरुः जगत्प्रकाशं अशेषं मम तत् (यशः) इज्यया लङ्घयितुम् उद्यतः ।

व्याख्या—हे राजन्यकुमार !=हे क्षत्रियपुत्र ! त्वं यत्=वचः । आत्थ=कथयसि । तत्=तद्वचः । तथैव सत्यमेव । तु=परन्तु । यशोधनैः=कीर्तिवित्तैः । रक्ष्यं=पालनीयं भवति । भवद्गुरुः=त्वत्पिता दिलीपः । जगत्प्रकाशं=त्रैलोक्यप्रसिद्धम् । अशेषं=सम्पूर्णम् । मम=इन्द्रस्य । तत्=यशः । इज्यया=शततमेनाश्वमेधयज्ञेन । लङ्घयितुं=नाशयितुं । उद्यतः=उद्यतोऽस्ति ।

समासः—राज्ञोऽपत्यं पुमान् राजन्यः राजन्यस्य कुमारः राजन्यकुमारः तत्सम्बुद्धौ हे राजन्यकुमार ! रक्षितुं योग्यं रक्ष्यम् । यश एव धनं येषां ते यशोधनाः तैः यशोधनैः । भवतः गुरुः भवद्गुरुः । जगति प्रकाशं जगत्प्रकाशं तत् जगत्प्रकाशम् ।

भावार्थः—हे राजकुमार रघो ! त्वदुक्तं यद्यपि सत्यमस्ति तथापि यशोऽभिलाषिभिः स्वकीयं यशो नूनं रक्षणीयम् । अश्वमेधानां शतं कृत्वा त्वत्पिता शतक्रतुरिति मे प्रसिद्धं नाम नाशयितुमिच्छति । अतः स्वयशोरक्षणाय मयाऽयमश्वोऽपह्रियते यथा शततमो यागो न सम्पन्नः स्यादिति भावः ।

सञ्जी०—यदिति । हे राजन्यकुमार ! क्षत्रियकुमार ! 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः । यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चनामादित आहो ब्रुवः' इत्यनेनाहादेशः तत्तथा सत्यम् । किन्तु यशोधनैरस्मद्विधैः परतः शत्रुतो यशो रक्ष्यम् । ततः किमत आह—भवद्गुरुस्त्वत्पिता जगत्प्रकाशं लोकप्रसिद्धमशेषं सर्वं मम तद्यशः इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्तुमुद्यत उद्युक्तः ।

भावार्थ—हे राजकुमार ! आप जो कहते हो वह ठीक है, परन्तु हमारे ऐसे यशस्वियों को शत्रुओं से कीर्ति की रक्षा करनी चाहिए । समस्त भुवनों में प्रसिद्ध मेरे उस यश को आपके पिता यज्ञ द्वारा उलङ्घन करने के लिए उद्यत हैं ।।४८।।

किं तद्यश इत्याह—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ।। ४९ ।।

अन्वयः—यथा हरि एकः (एव) पुरुषोत्तमः स्मृतः, (यथा च) त्र्यम्बकः एकः महेश्वरः (स्मृतः), अपरः न, तथा मुनयः मां शतक्रतुं विदुः, हि नः एष शब्दः द्वितीयगामी न ।

व्याख्या—यथा=येन प्रकारेण । हरिः=विष्णुः । एकः=एक एव । पुरुषोत्तमः (इति) स्मृतःलोकैः स्मर्यते । यथा च त्र्यम्बकः=त्रिनेत्रः भगवान् शिव एव महेश्वर इति उच्यते । नापरः=नान्यः । तथा=तथैव । मां=महेन्द्रम् । मुनयः =परावरज्ञाः, मननशीला विद्वांसः । शतक्रतुं=शतमन्युम् । विदुः=विदन्ति । न हरिहरमहेन्द्राणामस्माकम् । एष शब्दः=पुरुषोत्तम–महेश्वरशतक्रतुरूपः [शब्दः । द्वितीयगामी=अस्मदतिरिक्त-जनवाची । न=नैव । अद्य यावत् मदन्यो न कश्चन शतक्रतुरस्ति ।

समासः—पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः । महांश्चासावीश्वरश्चेति महेश्वरः । त्रीणि अम्बकानि यस्यासौ त्र्यम्बकः । शतं क्रतवो यस्यासौ शतक्रतुः । द्वितीयं गच्छतीति द्वितीयगामी ।

भावार्थः–अये राजकुमार ! यथा मुनयो भगवन्तं विष्णुं पुरुषोत्तमं कथयन्ति, भगवन्तं शिवं च त्र्यम्बकं निगदन्ति, तथैव मां शतक्रतुं वदन्ति । इमे त्रय

उपाधयः चतुर्थं कमपि नाश्रयन्ते । एवं चानन्यसाधारणोऽयं शतक्रतुरिति मे शब्दः त्वत्पिता चेदानीं शततमं यज्ञं पूरयित्वा तमपहर्तुं प्रवृत्तः । अतोऽयमश्वो मयाऽपहारित इति भावः ।

सञ्जी०—हरिरिति । पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमासः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात् । कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्युत्तम-पुरुष इति स्यात् । यथा हरिर्विष्णुरेक एव पुरुषोत्तमः स्मृतः । यथा च त्र्यम्बकः शिव एव महेश्वरः स्मृतः । नापरोऽपरः पुमान्न । तथा मां मुनयः । शतक्रतुं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेर्जुसादेशः । नोऽस्माकम् । हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः । एष त्रितयोऽपि शब्दो द्वितीयगामी न हि । द्वितीयाप्रकरणे गम्यादीना-मुपसङ्ख्यानात्समासः ।

भाषार्थ—जिस प्रकार भगवान् विष्णु ही एक पुरुषोत्तम कहे गये हैं, शिव ही महेश्वर कहे गये हैं और दूसरे नहीं; उसी प्रकार मुनि लोग मुझे शतक्रतु जानते हैं । हम लोगों के ये शब्द दूसरे व्यक्ति को प्राप्तव्य नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ॥५०॥

अन्वयः—अतः त्वदीयस्य पितुः अयम् अश्वः कपिलानुकारिणा मया अपहारितः । अत्र तव प्रयत्नेन अलम् । सगरस्य सन्ततेः पदव्यां पदं मा निधाः ।

व्याख्या—अतः=अस्माद्धेतोः । त्वदीयस्य=भवदीयस्य । पितुः=जनकस्य । अयं=एषः । अश्वः=तुरङ्गमः । कपिलानुकारिणा=कपिलसदृशप्रभावेण । मया=शतक्रतुना । अपहारितः=अपहृतः । तव=भवतः । अत्र=अश्वमोक्षणे । प्रय-त्नेन=प्रयासेन । अलं=प्रयोजनं नास्ति, प्रयत्नं माकार्षीः । सगरस्य=सगर-नाम्नो नृपतेः । सन्ततेः=सन्तानस्य । पदव्यां=मार्गे, अश्वमोक्षणप्रयासरूपे । पदं=पादम् । मा निधाः=न निधेहि ।

समासः—कपिलमनुकरोति तच्छीलः कपिलानुकारी तेन कपिलानुकारिणा । तव इदं त्वदीयः तस्य त्वदीयस्य ।

भावार्थः—अतो निजयशोरक्षार्थं कपिलमुनिसमप्रभावेण मयाऽयमश्वमेधीय-यज्ञाश्वोऽपह्रियते । तन्मोचनप्रयासो न विधेयः, त्वया सगरसन्ततिसेविते मार्गो वा नावलम्बनीयः ।

पुरा सगरस्याश्वामेधीयोऽश्वो महेन्द्रेणा मुषित्वा तपस्यतः कपिलमुनेः पार्श्वे बद्धः । ततोऽश्वान्वेषकैः सगरपुत्रैः तत्रोपस्थाय अयं चौरः, अयमेव चौर इति

कोलाहलं कुर्वद्भिः हन्यमानः कपिलः तान् सहसा भस्मसात् कृतवानिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया ।

सञ्जी०—अत इति । यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्त्वदीयस्य पितुरयं शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितोऽपहृतः । अपहारित इति स्वार्थे णिच् । तवात्राश्वे प्रयत्नेनालम् । प्रयत्नो माकार्षीत्यर्थः । निषेधस्य निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया । सगरस्य राज्ञः सन्ततेः सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधाः न निधेहि । निपूर्वाद्धातोर्लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं भवेदिति भावः ।

भावार्थ—अतः कपिल मुनि का अनुकरण करने वाले मैंने तुम्हारे पिता के घोड़े को चुरा लिया है । इस सम्बन्ध में तुम्हारा प्रयत्न निष्फल है । सगर के पुत्रों के मार्ग पर पैर न रखो ।। ५० ।।

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते नखल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—ततः तुरगस्य रक्षिता प्रहस्य अपभयः (सन्) पुनः पुरन्दरम् बभाषे । यदि एष ते सर्गः, शस्त्रं गृहाण । भवान् रघुम् अनिर्जित्य कृती न खलु ।

व्याख्या—ततः=इन्द्रवचनश्रवणानन्तरम् । तुरगस्य=यज्ञाश्वस्य । रक्षिता= रक्षको रघुः । प्रहस्य=हसित्वा । अपभयः=निर्भयः । सन् । पुरन्दरं=इन्द्रम् । पुनः=भूयः । बभाषे = जगाद । यदि=चेत् । एषः = अश्वप्रदानरूपः । ते=तव । सर्गः=निश्चयः । तर्हि=तदा । अस्त्रं=आयुधम् । गृहाण=समादेहि । यतः भवान्=त्वम् इन्द्रः । रघुः=अश्वरक्षकं माम् । अनिर्जित्य=अपरिजित्य । न खलु=नैव । कृती=कृतकृत्यः, स्वकीययशसः रक्षणे न समर्थः ।

समासः—न निर्जित्य अनिर्जित्य । कृतमनेन कृती । अपगतं भयं यस्मात् स अपभयः ।

भावार्थः—तत इन्द्रस्य विभीषिकामाकर्ण्य रघुः उच्चैः हसित्वा निर्भीकः सन् पुनरिन्द्रं बभाषे। यदि भवत एष एव निर्णयस्तर्हि युद्धाय सन्नद्धो भव। मामविजित्येनमश्वं नेतुं न शक्नोति भवान् ।

सञ्जी०—तत इति । ततस्तुरगस्य रक्षिता रघुःप्रहस्य प्रहासं कृत्वा । अपभयो निर्भीकः सन् । पुनः पुरन्दरं बभाषे । किमिति ? हे देवेन्द्र ! यद्येषो ऽश्वामोचनरूपस्ते तव सर्गो निश्चयः । 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु

इत्यमरः। तर्हि शस्त्रं गृहाण। भवान् रघुः मामनिर्जित्य कृतमनेनेति कृती। कृतकृत्यो न खलु। 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः। रघुमित्यनेनात्मनो दुर्जयत्वं सूचितम्।

भाषार्थ—तब अश्वरक्षक रघु ने हँसकर, निर्भय हो पुनः इन्द्र से कहा—अगर आपका यही निश्चय है तो शस्त्र उठाइए, आप मुझको जीते बिना सफल नहीं हो सकते ॥ ५१ ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुः प्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—उन्मुखः मघवन्तम् एवम् शरासनं सशरं करिष्यमाणः आलीढविशेषशोभिना वपुः प्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः (सन्) अतिष्ठत्।

व्याख्या—सः = रघुः। उन्मुखः=ऊर्ध्वमुखः सन्। स मघवन्तं=पुरन्दरम्। एवं=इत्थम्। उक्त्वा=कथयित्वा। सशरं=सबाणम्। शरासनं=धनुः। करिष्यमाणः=विधास्यन्। आलीढविशेषशोभिना=आलीढाख्य-स्थानभेदातिशयशोभिना। वपुःप्रकर्षेण=शरीरौन्नत्येन। विडम्बितेश्वरः = अनुकृतपिनाकपाणिः सन्। अतिष्ठत्=तस्थौ समवस्थितः।

समासः—उत् ऊर्ध्वं मुखं यस्यासौ उन्मुखः। शरेण सहितं सशरं तत् सशरम्। विशेषेण शोभते तच्छील इति विशेषशोभी, आलीढेन विशेषशोभी आलीढविशेषशोभी तेन आलीढविशेषशोभिना। वपुषः प्रकर्षः वपुःप्रकर्षः तेन वपुःप्रकर्षेण। विडम्बितः ईश्वरो येनासौ विडम्बितेश्वरः।

भावार्थः—एवं महेन्द्रमुक्त्वा त्रिपुरारिःपुरत्रयं घस्यन्निव रघुः सशरं धनुरादाय युद्धोन्मुखवीरोचितात्यन्ताकर्षकशरीरोत्कर्षेण युद्धसन्नद्धोऽवतस्थे इति भावः।

सञ्जी०—स इति। स रघुरुन्मुखः सन् मघवन्तमिन्द्रमेवमुक्त्वा शरासनं चापं सशरं करिष्यमाणः। आलीढेनालीढाख्येन स्थानभेदेन विशेषशोभिनाऽतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण देहौन्नत्येन विडम्बितेश्वरोऽनुसृतपिनाकी सन्। अतिष्ठत्। आलीढलक्षणमाह यादवः—"स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम्। त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति॥ अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः। दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढं विपर्ययः॥ इति॥

भाषार्थ—यों इन्द्र से कह ऊपर मुँह किये धनुष पर बाण चढ़ाये रघु आलीढ नामक आसन विशेष से शोभित शरीर के औन्नत्य से त्रिपुरसंहार के अवसर पर युद्ध के लिए सन्नद्ध भगवान् शंकर के समान खड़े हो गये॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्त्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—रघोः अवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षता अमर्षणः गोत्रभित् अपि नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुषि अमोघं अस्त्रं समधत्त ।

व्याख्या—रघोः=दिलीपसूनोः । अवष्टम्भमयेन=स्तम्भाकारेण, सुवर्णमयेन । पत्त्रिणा=बाणेन । हृदि=हृदये । क्षतः-ताडितः । अत एवामर्षणः=क्रोधनः । गोत्रभित् अपि=इन्द्रोऽपि । नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने=नवजलधरमण्डलक्षणमात्रभूषणे । धनुषि=कोदण्डे । अमोघं=अव्यर्थम् । सायकं=बाणम् । समधत्त=सन्दधे ।

समासः—प्रचुरः अवष्टम्भः अवष्टम्भमयः तेन अवष्टम्भमयेन । गोत्रान् भिनत्तीति गोत्रभित् । न मृष्यते इत्यमर्षणः । नवाश्च ते अम्बुदा नवाम्बुदा, नवाम्बुदानामनीकं, मुहूर्तं लाञ्छनं मुहूर्तलाञ्छनं, नवाम्बुदानीकस्य मुहूर्तलाञ्छनं नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छनं, तस्मिन् नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने । न मोघः अमोघः तम् अमोघम् ।

भावार्थः—दिलीपपुत्रेण रघुणा तीव्रबाणद्वारा वक्षसि विद्धः, रोषभीषणो मघवाऽपि वर्षाकालिके विचित्रवर्णे स्वधनुषि अपि अमोघं बाणं संयोजयामासेति भावः ।

सञ्जी०—रघोरिति । रघोरवष्टम्भमयेन स्तम्भरूपेण । 'अवष्टम्भः सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपि' इति विश्वः । पत्त्रिणा बाणेन हृदि हृदये क्षतो विद्धः । अत एवामर्षणोऽसहनः क्रुद्ध इत्यर्थः । गोत्रभिदिन्द्रोऽपि । 'सम्भावनीये चौरेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे मतः' इति विश्वः । नवाम्बुदानामनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्तं लाञ्छने चिह्नभूते धनुषि । दिव्ये धनुषीत्यर्थः । अमोघमवन्ध्यं सायकं बाणं समधत्त संहितवान् ।

भाषार्थ—रघु के स्तम्भरूपी बाण से हृदय पर आघात खाकर इन्द्र ने भी नये मेघों के समान वर्णवाले धनुष पर अव्यर्थ बाण को चढ़ाया ॥ ५३ ॥

दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—भीमासुरशोणितोचितः सः आशुगः दिलीपसूनोः बृहत् भुजान्तरं प्रविश्य, अनास्वादितपूर्वं मनुष्यशोणितं कुतूहलेन इव पपौ ।

व्याख्या—भीमासुरशोणितोचितः = दुर्धर्षभीषणदैत्यदानवासुररक्तपानपरिचितः। सः=इन्द्रमुक्तः। आशुगः=बाणः। दिलीपसूनोः=रघोः। बृहत्=विशालम्। भुजान्तरं=वक्षःस्थलम्। प्रविश्य=अन्तर्गत्वा, अनास्वादितपूर्वम्=अननुभूतचरम्। मनुष्यशोणितं=नररक्तम्। कुतूहलेनेव=विस्मयेनेव। पपौ=आस्वादितवान्।

समासः—दिलीपस्य सूनुः दिलीपसूनुः तस्य दिलीपसूनोः। भुजयोः अन्तरं भुजान्तरं, तत् भुजान्तरम्। भीमाश्च ते असुरा भीमासुरा, भीमासुराणां शोणितं भीमासुरशोणितं भीमासुरशोणिते उचितः भीमासुरशोणितोचितः। पूर्वम् अनास्वादितम् अनास्वादितपूर्वं तत् अनास्वादितपूर्वम्। मनुष्यस्य शोणितं मनुष्यशोणितं तत् मनुष्यशोणितम्।

भावार्थः—महेन्द्रमुक्तो दैत्यदानवासुराणां रक्तपाने कृताभ्यासशरो रघोः विशालं वक्षःस्थलं प्रविश्य प्राक् कदापि न पीतं मानुषं रुधिर कौतूहलेनापिबदिव लक्ष्यतेति भावः।

सञ्जी०—दिलीप इति। भीमानां भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिरे उचितः परिचितः स इन्द्रमुक्त आशुगः सायको दिलीपसूनोः रघोर्बृहद्विशालं भुजान्तरं वक्षः प्रविश्य। अनास्वादितपूर्वं पूर्वमनास्वादितम्। 'सुप्सुपे'ति समासः। मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ।

भाषार्थ—भयंकर दैत्यों के रुधिर से परिचित उस बाण ने रघु के विशाल हृदय में घुसकर, पहिले न चखे हुए मनुष्य के खून को कौतुक से पीया ॥५४॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—कुमारविक्रमः अपि सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेः भुजे स्वनामचिह्नं सायकं निचखान।

व्याख्या—कुमारविक्रम=स्कन्दसमपराक्रमः। कुमारोऽपि=राजकुमारो रघुरपि। सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुली=ऐरावतचालनकठिनकरशाखे। शचीपत्रविशेषकाङ्किते = इन्द्राणीपत्रतिलकभूषिते। हरेः=इन्द्रस्य। भुजे=बाहौ। स्वनामचिह्नं=स्वनामाङ्कितम्। सायकं=बाणम्। निचखान=खानितवान्।

समासः—कुमारस्य विक्रमो इव विक्रमो यस्यासौ कुमारविक्रमः। सुराणां द्विपः सुरद्विपः, सुरद्विपस्य आस्फालनं सुरद्विपास्फालनं तेन कर्कशा अङ्गुलयोः यस्यासौ सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिः तस्मिन् सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ। पत्रनिर्मितानि विशेषाणि, पत्रविशेषणि शच्या पत्रविशेषाणि शचीपत्रविशेषाणि

तः अंकितः शचीपत्रविशेषकाङ्कितः तस्मिन् शचीपत्रविशेषकाङ्कते। स्वस्य नाम स्वनाम स्वनामैव चिह्नं यस्यासौ स्वनामचिह्नः तं स्वनामचिह्नम्।

भावार्थः—महेन्द्रबाणविद्धः सन् कार्तिकेयतुल्यपराक्रमो रघुरपि यत्रैरावतचालनेनाङ्गुलयः कठिना अभवन् यत्र वा इन्द्राण्याः प्रेम्णा पत्राणि उत्कीर्णान्यासन् तत्रेन्द्रबाहौ स्वनामचिह्नाङ्कितं बाणं निखातवानिति भावः।

सञ्जी०—हरेरिति। कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य सः तथोक्तः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य–' इत्यादिना समासः। कुमारोऽपि रघुरपि सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य स तस्मिन्। शच्याः पत्रविशेषकैरङ्किते शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान निखातवान्। निष्कण्टकराज्यमाप्तस्यायं महानभिभव इति भावः।

भाषार्थ—स्कन्द के समान पराक्रमी रघु ने भी ऐरावत के चलाने से कर्कश अङ्गुलियों वाली, इन्द्राणी के तिलकविशेष से भूषित इन्द्र की भुजा पर अपने नाम के निशान वाला बाण मारा ॥ ५५ ॥

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अन्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजं जहार, सः सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोणात् इव, तस्मै भृशं चुकोप।

व्याख्या—अन्येन=इतरेण। मयूरपत्रिणा=मयूरपक्षशालिना। शरेण=बाणेन। शक्रस्य=इन्द्रस्य। महाशनिध्वजं=महाप्रभावं वज्ररूपं केतुम्। जहार च=चिच्छेद च। तेन च सः=इन्द्रः। सुरश्रियः=देवराजलक्ष्म्याः, प्रसह्य=बलात्कृत्य। केशव्यपरोपणादिव। तस्मै=रघवे। भृशं=अतिमात्रम्। चुकोप=चुक्रोध।

समासः—मयूरस्य पत्राणि मयूरपत्राणि मयूरपत्राणि, सन्ति अस्मिन्निति मयूरपत्री तेन मयूरपत्रिणा। महांश्चासावशनिश्चेति महाशनिः महाशनिरेव ध्वजो महाशनिध्वजः तं महाशनिध्वजम्। सुराणां श्रीः सुरश्रीः तस्या सुरश्रियः। केशानां व्यपरोपणं केशव्यपरोपणम् तस्मात् केशव्यपरोपणात्।

भावार्थः—ततो रघुः शरान्तरेण मघोनो वज्ररूपं ध्वजं चिच्छेद। ततो महेन्द्रः सुरलक्ष्म्याः केशमुण्डनमिव मत्वा रघूपरि भृशं चुक्रोध इति भावः।

सञ्जी०—जहारेति। अन्येन मयूरपत्रिणा मयूरपत्रवता शरेण शक्रस्येन्द्रस्य महाशनिध्वजं महान्तमशनिरूपं ध्वजं जहार चिच्छेद च। स शक्रः। सुरश्रियः प्रसह्य बलात्कृत्य केशानां व्यपरोपणादवतारणाच्छेदनादिव। तस्मै रघवे भृशमत्यर्थं चुकोप। तं हन्तुमियेषेत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहेर्ष्या–' इत्यनेन सम्प्रदानत्वम्।

भावार्थ—(रघु ने) दूसरे मोरपंख वाले वाण से इन्द्र की वड़ी वज्र-ध्वजा को काट दिया। इन्द्र, देवताओं की लक्ष्मी के जबर्दस्ती केश कट जाने के समान, उस रघु पर बहुत हुए ।। ५६ ।।

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं　गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—जयैषिणोः तयोः गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः अधोमुखैः ऊर्ध्वमुखैः च पत्रिभिः उपान्तस्थितसिद्धसैनिकं तुमुलं युद्धं बभूव ।

व्याख्या—जयैषिणोः=परस्परविजयाभिलाषिणोः । तयोः=द्वयोरिन्द्ररघ्वोः । गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः=सपक्षसर्पभीषणदर्शनैः । अधोमुखैः=नीचैर्वदनैः । ऊर्ध्वमुखैः=उन्मुखैश्च । पतत्रिभिः=वाणैः । उपान्तस्थितसिद्धसैनिकं=निकट-स्थितदेवगणसैनिकम् । तुमुलं=भयङ्करम् । युद्धं=संग्रामं । बभूव ।

समासः—सिद्धाश्च सैनिकाश्च सिद्धसैनिकाः अन्तस्य समीपमुपान्तम् उपान्ते स्थिताः सिद्धसैनिकाः यस्मिन् तत् उपान्तस्थितसिद्धसैनिकम् । गरुतः सन्ति एषा-मिति गरुत्मन्तः, गरुत्मन्तश्च ते आशीविषाश्च गरुत्मदाशीविषाः, भीमं दर्शनं येषां ते भीमदर्शनाः, गरुत्मदाशीविषा इव भीमदर्शना गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनाः तैः गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः । जयमिच्छतः तच्छीलौ जयैषिणौ तयोः जयैषिणोः । अधो मुखं येषां ते अधोमुखाः तैः अधोमुखैः । ऊर्ध्वं मुखं येषां ते ऊर्ध्वमुखाः तैः ऊर्ध्वमुखै । पत्राणि सन्ति एषामिति पतत्रिः तैः पतत्रिभिः ।

भावार्थः—परस्परं जयैषिणोः तयोः रघुशक्रयोः भीषणं युद्धं बभूव । तत्रेन्द्रस्य गगनं वर्तमानतया रघोर्वाणा ऊर्ध्वमुखा रघोर्भूतलस्थादिन्द्रबाणा अधोमुखाः पक्ष-वन्तो भयङ्करसर्पा इव प्रसरन्ति स्म । तांश्च शक्रसमीपे तटस्था दर्शका इव देवा रघुनिकटे सैनिकाश्च साश्चर्यं पश्यन्ति स्मेति भावः ।

सञ्जी०—तयोरिति । जयैषिणोरन्योऽन्यजयाकाङ्क्षिणोस्तयोरिन्द्ररघ्वोः । गरुत्मन्तः पक्षवन्तः । 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रम्' इत्यमरः । आशीविषाः आशिषि दंष्ट्रायां विषं येषां ते आशीविषाः सर्पाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'स्त्री त्वाशी-र्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः । त इव भीमदर्शनाः । सपक्षाः सर्पा इव द्रष्टॄणां भयावहा इत्यर्थः । तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च । धन्विनोरुपर्यधोदेशावस्थितत्वादिति भावः । पत्रिभिर्वाणैरुपान्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धा देवा इन्द्रस्य सैनिकाश्च रघोर्यस्मिस्तत्तथोक्तं तुमुलं संकुलं युद्धं बभूव ।

भावार्थ—विजयेच्छु उन दोनों का पंखवाले साँपों के समान देखने में भया-

नक (इन्द्र के) अधोमुख और (रघु के) ऊर्ध्वमुख बाणों से देवताओं अ सैनिकों के देखते-देखते घमासान युद्ध हुआ ॥ ५७ ॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—वासवः अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिः दुष्प्रसहस्य तेजसः आश्रय तम् अम्बुदः अद्भिः स्वतः च्युतं वह्नि इव निर्वापयितुं न शशाक ।

व्याख्या—वासवः=इन्द्रः । अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिः=निरन्तरप्रयुक्तास्त्र-वर्षणैः । दुष्प्रसहस्य = अत्यन्तमसह्यस्य । तेजसः = प्रतापस्य । आश्रयं= स्थानम् । स्वतश्च्युतं=स्वांशभूतम् । तं=रघुम् । अम्बुदः=मेघः । अद्भिः= जलैः । स्वतश्च्युतं=स्वस्मान्निर्गतम् । वह्निमिव=मेघज्योतिरिव । निर्वापयितुं= शमयितुं । न शशाक=न समर्थो बभूव ।

समासः—अस्त्राणां वृष्टयः अस्त्रवृष्टयः, अतिप्रबन्धेन प्रहिता अतिप्रबन्धप्रहिता अतिप्रबन्धप्रहिताश्च ता अस्त्रवृष्टयः अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टय; ताभिः अति-प्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिः । दुःखेन प्रसह्यते दुष्प्रसहं तस्य दुष्प्रसहस्य ।

भावार्थः—यथा जलधरः स्वतो निर्गतं वैद्युतमग्निं स्वयं वृष्टिभिः निर्वापयितुं न समर्थो भवति तथैवेन्द्रोऽपि स्वस्मादाविर्भूतं रघुमजस्रबाणवर्षणेन शमयितुं न शशाक । 'अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्जायते नृपः ।' इति मनूक्त्या लोक-पालांशतया रघोरिन्द्रांशता स्फुटैवेति भावः ।

सञ्जी०—अतिप्रबन्धेति । वासवोऽतिप्रबन्धेनातिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ता-भिरस्त्रवृष्टिभिर्दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहं तस्य । दुःखेनाप्यसह्यस्ये-त्यर्थः । तेजसः प्रतापस्याश्रयं तं रघुम् । अम्बुदोऽद्भिः स्वतश्च्युतं निर्गतं वह्निमिव । निर्वापयितुं न शशाक । रघोरपि लोकपालात्मकस्येन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः

भावार्थ—इन्द्र अत्यन्त प्रयत्न से प्रयुक्त अस्त्रों की वर्षा से असह्य तेज के आधार पर उस रघु को शान्त करने में समर्थ नहीं हो सके, जिस प्रकार जल-रिक्त मेघ अग्नि को शान्त करने में असमर्थ होता है ॥ ५८ ॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्द्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ततः रघुः हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं विडौजसः, शरासनज्यां शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा अलुनात् ।

व्याख्या—ततः=तदनन्तरम् । रघुः=दिलीपपुत्रः । हरिचन्दनाङ्किते=

चन्दनचर्चिते। प्रकोष्ठे=मणिबन्धे। प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्=मंथनविक्षुब्ध-सागरगम्भीरध्वनिशालिनीम्। विडौजसः=इन्द्रस्य। शरासनज्यां=कार्मुकमौर्वीं, शशाङ्कार्धमुखेन=अर्धचन्द्रेण। पत्रिणा=बाणेन। अलुनात्=अच्छिनत्।

समासः—हरिचन्दनेनाङ्कितं हरिचन्दनाङ्कितं तस्मिन् हरिचन्दनाङ्किते। प्रमथ्यते इति प्रमथ्यमानः प्रमथ्यमानश्चासौ अर्णवः प्रमथ्यमानार्णव तदिव धीरं नदति तच्छीला प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनी तां प्रमथ्यमानार्णधीरनादिनीम्। शश इव अङ्को यस्य स शशाङ्क शशाङ्कस्य अर्द्धः शशाङ्कार्द्धः शशाङ्कार्द्धं इव मुखं यस्य सः शशाङ्कार्द्धमुखः तेन शशाङ्कार्द्धमुखेन। शरासनस्य ज्या शरासनज्या तां शरासनज्याम्।

भावार्थः—ततो रघुः हरिचन्दनचर्चिते महेन्द्रबाहौ वर्तमानस्य इन्द्रधनुषो गम्भीरनादिनीं मौर्वीम् अर्द्धचन्द्रेण बाणेन अच्छिनत्—इति भावः।

सञ्जी०—तत इति। ततो रघुर्हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे मणिबन्धे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं प्रमथ्यमार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्ताम्। वेवेष्टि व्याप्नोतीति विड्—व्यापकमोजो यस्य स तस्य विडौजस इन्द्रस्य। पृषोदरादित्वात्साधुः। शरासनज्यां धनुर्मौर्वीम्। शशाङ्कस्यार्द्धःखण्डम् इव मुखं फलं यस्य तेन पत्रिणाऽलुनादच्छिनत्।

भाषार्थ—तब रघु ने हरिचन्दन से चिह्नित पहुँचे में, मथे जाते हुए समुद्र के समान गम्भीर ध्वनि वाली इन्द्र के धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी) को अर्द्धचन्द्र तुल्य बाण से काट दिया॥ ५९॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचित स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे॥ ६०॥

अन्वयः—विवृद्धमत्सरः स चापम् उत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः प्रणाशनाय महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितम्, स्फुरत्प्रभामण्डलम् अस्त्रम् आददे।

व्याख्या—विवृद्धमत्सरः=प्रवृद्धवैरः। सः = इन्द्रः। चापं = बाणम्। उत्सृज्य=विहाय। प्रबलस्य=बलीयसः। विद्विषः=रिपोः रघोः। प्रणाशनाय=वधाय। महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं=पर्वतपक्षच्छेदनदक्षम्। स्फुरत्प्रभामण्डलं=प्रदीप्तप्रभामण्डलशोभितम्। अस्त्रं=वज्रम्। आददे=जग्राह।

समासः—प्रवृद्धः मत्सरो यस्यासौ प्रवृद्धमत्सरः। महीं धारयन्तीति महीध्राः महीध्राणां पक्षा महीध्रपक्षा महीध्रपक्षाणां व्यपरोपणं महीध्रपक्षव्यपरोपणं महीध्रपक्षव्यपरोपणे उचितं महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितम्। प्रकृष्टं बलं यस्य स

प्रबलः तस्य प्रबलस्य । विशेषेण द्वेष्टीति विद्विट् तस्य विद्विषः । प्रभाणां मण्डलं प्रभामण्डलं, स्फुरत् प्रभामण्डलं यस्य स स्फुरत्प्रभामण्डलं तत् स्फुरत्प्रभामण्डलम् ।

भावार्थः—एवं प्रवृद्धवैरो वासवो विच्छिन्नमौर्वीकं धनुर्विहाय प्रबलीयसः शत्रोर्न केवलं पराजय एव कार्यः, अपि तु तस्य वध एव श्रेयानिति निश्चित्य क्रुद्ध इन्द्रो रघुविनाशाय पर्वतपक्षच्छेदनदक्षं भीषणं वज्रं जग्राहेति भावः ।

सञ्जी०—स इति । विवृद्धमत्सरः प्रवृद्धवैरः स इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः शत्रोः प्रणाशनाय वधाय । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । तेषां पक्षव्यपरोपणे पक्षच्छेदे उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वज्रायुधमाददे जग्राह ।

भाषार्थ—धनुष की डोरी कट जाने से क्रुद्ध इन्द्र ने धनुष फेंककर प्रबल वैरी के वध के लिए पहाड़ों के पंख काटने में कुशल चमकता हुआ वज्र उठा लिया ॥ ६० ॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ ६१ ॥

अन्वयः— रघुः तेन भृशं वक्षसि ताडितः (सन्) सैनिकाश्रुभिः सह भूमौ पपात, निमेषमात्रात् तद्व्यथाम् अवधूय सैनिकहर्षनिःस्वनैः सह उत्थितः ।

व्याख्या—रघुः=दिलीपकुमारः । तेन=वज्रेण । भृशं=अत्यर्थम् । वक्षसि=वक्षःस्थले । ताडितः=आहतः सन् । सैनिकाश्रुभिः=सैनिकगणाश्रुभिः । सह=साकं । भूमौ=पृथिव्यां । पपात=पतितः, मूर्च्छितोऽभवत् । निमेषमात्रात्=मुहूर्तमात्राच्च । तद्व्यथां=वज्राघातदुःखम् । अवधूय=तिरस्कृत्य । सैनिकहर्षनिःस्वनैः=स्वसैनिकहर्षध्वनिभिः सह । उत्थितः=समुत्थितः च ।

समासः—सेनाया सममेताः सैनिकाः सैनिकानामश्रूणि सैनिकाश्रूणि तैः सैनिकाश्रुभिः । निमेष एव निमेषमात्रम् तस्मात् निमेषमात्रात् । तस्य व्यथा तद्व्यथा तां तद्व्यथाम् । हर्षेण निःस्वना हर्षनिःस्वनाः तैः हर्षनिःस्वनैः ।

भावार्थः—महेन्द्रप्रक्षिप्तवज्राहतो रघुः मूर्च्छितः सन् यदा भूमौ व्यपतत् तदा तदन्तिकस्थाः विषण्णवदनाः सर्वे सैनिका अरुदन् । क्षणमात्राच्च वीरो रघुः तत् कष्टं विधूय यदा समुत्थितस्तदा ते सैनिका हर्षध्वनिं चक्रुरिति भावः ।

सञ्जी०—रघुरिति । रघुस्तेन वज्रेण भृशमत्यर्थं वक्षसि ताडितो हतः सन् । सैनिकानामश्रुभिः सह भूमौ पपाप । तस्मिन्पतिते ते रुरुदुरित्यर्थः । निमेषमात्रात्तद्व्यथां दुःखमयवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वनाः क्ष्वेडास्तैः सहोत्थितश्च । तस्मिन्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादांश्चक्रुरित्यर्थः ।

भावार्थ—रघु उस वज्र के कारण छाती में चोट लगने से सैनिकों के रुदन के साथ पृथ्वी पर गिर गये, किन्तु क्षणभर में उस पीड़ा को दूर कर सैनिकों के हर्षनाद के साथ उठ कर खड़े हो गये ॥ ६१ ॥

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरं तस्थुषः अस्य वीर्यातिशयेन वृत्रहा तुतोष हि गुणैः सर्वत्र पदं निधीयते ।

व्याख्या—तथापि=एवं सत्यपि । शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे=आयुधप्रहारक्रूरे । विपक्षभावे=शत्रुत्वे । चिरं=बहुकालम् । तस्थुष=स्थितवतः । अस्य=रघोः । वीर्यातिशयेन=पराक्रमाधिक्येन । वृत्रहा=इन्द्रः । तुतोष=प्रसन्नो बभूव । हि=यतः । गुणैः=शौर्यादिभिः । सर्वत्र=शत्रौ मित्रे च । पदं=चरणः । निधीयते=स्थीयते ।

समासः—शस्त्राणां व्यवहारः शस्त्रव्यवहारः, तेन निष्ठुरः शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरः तस्मिन् शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे । विरुद्धः पक्षो यस्य स विपक्षः, विपक्षस्य भावः विपक्षभावः तस्मिन् विपक्षभावे । तस्थौ इति तस्थिवान् तस्य तस्थुषः । वीर्यस्यातिशयः वीर्यातिशयः तेन वीर्यातिशयेन । वृत्रं हतवानिति वृत्रहा ।

भावार्थः—अमोघास्त्रेणेन्द्रवज्रेणाहतोऽपि रघुः पुनर्योद्धुं सन्नद्धः सन्निन्द्रं तोषयामास । विपक्षभूतस्यापि रघोः वीर्यातिशयेन वृत्रहाऽतितरां प्रसन्नो भूत्वा तमभिनन्दितवान् । गुणा हि शत्रुहृदयमप्यावर्जयन्तीति भावः ।

सञ्जी०—तथाऽपीति । तथाऽपि वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे शात्रवे चिरं तस्थुषः स्थितवतोऽस्य रघोर्वीर्यातिशयेन । वृत्रं हतवानिति वृत्रहा । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तुतोष । स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः । कथं शत्रोः सन्तोषोऽत आह—गुणैः सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनेषु पदङ्घ्रिर्निधीयते । गुणैः सर्वत्र संक्रम्यत इत्यर्थः । गुणाः शत्रूनप्यावर्जयन्तीति भावः ।

भावार्थ—वज्र प्रहार पर भी शस्त्र चलाने में निष्ठुर शत्रुभाव में बहुत समय तक स्थित इस रघु के बल की अधिकता से इन्द्र सन्तुष्ट हो गये; क्योंकि गुणों से ही सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है ॥ ६२ ॥

असंगमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात् किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—'सारवत्तया अद्रिषु अपि असङ्गं मे आयुधं त्वदन्येन न विसोढम्, मां प्रीतम् अवेहि तुरङ्गमात् ऋते किम् इच्छसि' इति वासवः स्फुटम् आह।

व्याख्या—सारवत्तया=बलवत्तया। अद्रिषु अपि=पर्वतेष्वपि। असङ्गं=अप्रतिहतम्। मे=मम। आयुधं=वज्रम्। त्वदन्येन=भवदतिरिक्तेन। न विसोढं=न मर्षितम्। अतो मां=महेन्द्रम्। प्रीतं=प्रसन्नम्। अवेहि=जानीहि। तुरङ्गमात्=अश्वात्। ऋते=बिना, यज्ञाश्वं विहाय। किमिच्छसि=किमभिलषसि तद्वद। इति=इत्थम्। स्फुटं=विस्पष्टम्। वासवः=इन्द्रः। आह=रघुं प्रति जगाद।

समासः—नास्ति सङ्गोऽस्येति तत् असङ्गम्। प्रशस्तः सारोऽस्ति अस्येति सारवत् तस्य भावः सारवत्ता तया सारवत्तया। त्वत्तः अन्यः त्वदन्यः तेन त्वदन्येन।

भावार्थः—वत्स रघो! महत्स्वपि पर्वतेषु बलवत्तया अमोघं मे वज्रं त्वदतिरिक्तेन न केनापि सोढमिति ते वीर्यातिशयेनाहं प्रसन्नोऽस्मि, वरं वृणीष्व इमं यज्ञाश्वं विहाय सर्वं ते दास्यामीति महेन्द्रो रघुं प्रति स्पष्टमुक्तवानिति भावः।

सञ्जी०—असङ्गमिति। सारवत्तयाऽद्रिष्वप्यसङ्गमप्रतिबन्धं मे आयुधं वज्रं त्वदन्येन न विसोढम्। अतो मां प्रीतं सन्तुष्टमवेहि। तुरङ्गमादृते तुरङ्गं वर्जयित्वा। 'अन्याराद्' इति पञ्चमी। किमिच्छसीति स्फुटं वासव आह। तुरङ्गमादन्यददेयं नास्तीति भावः।

भावार्थ—'बल में पर्वतों में भी न रुकने वाले मेरे वज्र को तुम्हारे अतिरिक्त और किसी ने नहीं सहन किया, अतः मुझे सन्तुष्ट समझो, घोड़े के अतिरिक्त क्या चाहते हो?' इन्द्र ने स्पष्ट कहा॥ ६३॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम्।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम्॥ ६४॥

अन्वयः—ततः निषङ्गात् असमग्रम् उद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् इषुं प्रतिसंहरन् प्रियंवदः नरेन्द्रसूनुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत्।

व्याख्या—ततः=प्रसन्नेन्द्रवचः श्रवणानन्तरम्। निषङ्गात्=तूणीरात् असमग्रं=असम्पूर्णम्, यथा स्यात्तथा। उद्धृतं=निष्कासितम्। सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिं=कनकमयशरप्रान्तकान्तिरञ्जितकरशाखम्। इषुं=बाणम्। प्रतिसंहरन्=अवरोपयन्, पुनस्तत्रैव स्थापयन्। सुरेश्वरम्=शक्रम्। प्रत्यवदत्=प्रत्याबभाषे।

समासः—न समग्रः असमग्रः तम् असमग्रम्। सुवर्णस्य पुङ्खः सुवर्णपुङ्खः सुवर्णपुङ्खस्य द्युतयः सुवर्णपुङ्खद्युतयः ताभिः रञ्जिता अङ्गुलयो यस्य येनासौ

सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिः तं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् । नराणामिन्द्रः नरेन्द्रः नरेन्द्रस्य सूनुः नरेन्द्रसूनुः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः ।

भावार्थः—एवं वदन्तमिन्द्रं प्रसन्नं श्रुत्वा युद्धादुपरमन् प्रहारार्थमर्द्धनिष्कासितं बाणं प्रतिसंहरन् प्रियवचनो रघुः महेन्द्रं मधुरवचनं प्रत्यभाषतेति भावः ।

सञ्जी०—तत इति । ततो निषङ्गात्तूणीरादसमग्र यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिभिः रञ्जिता अङ्गुलयो येन तमिषुं प्रतिसंहरन्निवर्त्तयन् । नाप्रहरन्तं प्रहरेदिति निषेधादिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषद्–' इति मुमागमः । नरेन्द्रसूनुः रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् । न तु प्राहरदिति भावः ।

भाषार्थ—तरकस से पूरा न निकाले हुए, अंगुलियों को रंग देने वाली सुनहरे मूल भाग की कान्ति से युक्त बाण को तरकस में रख मधुरभाषी रघु ने इन्द्र से कहा ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः सः मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे प्रभो ! अश्वम् अमोच्यं मन्यसे यदि ततः अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः विधिना एव कर्मणि समाप्ते (सति) क्रतोः अशेषेण फलेन युज्यताम् ।

व्याख्या—हे प्रभो !=हे सुरनायक ! यदि=चेत् । अश्वं=अमुं यज्ञीयं वाजिनम् । अमोच्यं=अत्याज्यम् । मन्यसे=निश्चिनोषि । ततः=तर्हि । अजस्रदीक्षाप्रयतः=नित्ययज्ञानुष्ठानपवित्रः । सः=सकललोकविदितः । मद्गुरुः=मत्पिता राजा दिलीपः । विधिनैव=वेदविहितमार्गेणैव । कर्मणि=अश्वमेधकर्मणि । समाप्ते=परिपूर्णे सति । क्रतोः=यज्ञस्य । अशेषेण=फलेन सकलेन पुण्येन । युज्यताम्=युक्तो भवतु । एष एव वरो दीयताम् ।

समासः—मोक्तुं योग्यः मोच्यः, न मोच्यः अमोच्यः तम् अमोच्यम् । अजस्रं दीक्षा अजस्रदीक्षा अजस्रदीक्षायां प्रयतः अजस्रदीक्षाप्रयतः । ममः गुरु मद्गुरुः । न शेषम् अशेषम्, तेन अशेषेण ।

भावार्थः—हे देवराज ! यदि भवानश्वममुं मोक्तुं नेच्छति तर्हि यथाविधिः साङ्गस्याश्वमेधस्यानुष्ठाने यत् फलमवाप्यते, तेन फलेन युक्तो मे पिता यथा भवेत्तथा कृपां कुरुअर्थात् भवदनुग्रहेण यज्ञाङ्गस्याश्वस्य विनाशेऽपि यज्ञः साङ्गोपाङ्गः परिपूर्णो भवतु इति भावः ।

सञ्जी०—अमोच्यमिति । हे प्रभो इन्द्र ! अश्वमोच्यं मन्यसे यदि ततस्तर्ह्य-जस्रदीक्षायां प्रयतः स मद्गुरुर्मम पिता विधिनैव कर्मणि समाप्ते सति क्रतोर्यत्फलं तेन फलेनाशेषण कृत्स्नेन युज्यतां युक्तोऽस्तु। अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः।

भाषार्थ—हे इन्द्र ! यदि आप इस घोड़े को अत्याज्य समझते हैं तो निरन्तर यज्ञ दीक्षा में तत्पर वे मेरे पिता विधिपूर्वक किये गये कर्म की समाप्ति होने पर अश्वमेध यज्ञ के पूरे फल से युक्त हों ॥ ६५ ॥

यथा च वृत्रान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव सन्देशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे लोकेश ! सदोगतः त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः विशांपतिः च यथा इमं वृत्तान्तं तव एव संदेशहरात् शृणोति तथा विधीयताम् ।

व्याख्या—च = किञ्च । हे लोकेश!=हे देवेन्द्र ! सदोगतः=यज्ञशालास्थितः । त्रिलोचनैकांशतयां = त्र्यम्बकांशतया । दुरासदः = दुर्निरीक्ष्यः प्रचण्डः । विशां = मनुजानाम् । पतिः = प्रभुः, स्वामी । यथा = येनोपायेन । इमं = वृत्तान्तं-अश्व-हरणमहेन्द्ररघुयुद्धपुरन्दरप्रसादादिरूपं समाचारम् । तव=भवतः । सन्देशहरात्= संदेशवाहकात् दूतादेव । शृणोति = आकर्णयति, निशाम्येतु । तथा = तथैव । विधीयतां = क्रियताम् ।

समासः—सदसि गतः सदोगतः । त्रीणि लोचनानि यस्यासौ त्रिलोचनः । एकश्चासौ अंशः एकांशः, त्रिलोचनस्यैकांशः त्रिलोचनैकांशः तस्य भावः त्रिलोचनै-कांशता तया त्रिलोचनैकांशतया । दुःखेन आसादयितुं योग्यो दुरासदः । सन्देशं हरतीति सन्देशहरः तस्मात् सन्देशहरात् । लोकस्येशः लोकेशः तत्सम्बुद्धौ हे लोकेश ! ।

भावार्थः—हे देवराज ! यज्ञमण्डपे वर्तमानः शिवांशतयातितेजस्वी मम पिता, न साधारणदूतैरभिगम्यः । अत आवयोरिदं वृत्तान्तं यथा भवतो दूतादेव जानातु, तथैव भवता प्रबन्धो विधेयः । नाहमिमं वृत्तान्तं स्वपितुरग्रे निवेदयितुं शक्नोमीति भावः ।

सञ्जी०—यथेति । सदोगतः सदो गृहं गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टा-नामन्यतममूर्त्तित्वात् । दुरासदोऽस्मादृशैर्दुष्प्राप्यो विशांपतिर्यथेमं वृत्तान्तं तव सन्देशहराद्वार्त्ताहरादेव शृणोति च । हे लोकेशेन्द्र ! तथा विधीयताम् ।

भाषार्थ—हे लोकपाल ! सभा में स्थित शिवजीके एक अंश होने से दुष्प्राप्य मेरे पिता जिस तरह इस समाचार को आपके ही दूत से सुनें वैसा आप करें ॥६६॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥

अन्वयः—मातलिसारथिः 'तथा' इति रघोः कामं प्रतिशुश्रुवान्, यथागतं ययौ सुदक्षिणासूनुः अपि नातिप्रमनाः नृपस्य सदोगृहं न्यवर्तत ।

व्याख्या—मातलिसारथिः = इन्द्रः । रघोः = दिलीपसूनोः । कामं = पूर्वोक्तं मनोरथम् । तथा = अस्त्वेवम् । इति—इत्थम् । प्रतिशुश्रुवान् = प्रतिज्ञातवान्, स्वीकृतवान् । यथागतं = यथागतस्तथा, यत आगतस्तत्रैव वा । ययौ = जगाम । सुदक्षिणासूनुरपि = रघुरपि । नातिप्रमनाः—नातिसन्तुष्टः सन् । नृपस्य = राज्ञो दिलीपस्य । सदोगृहं=यज्ञशालां प्रति । न्यवर्तत = प्रत्याजगाम ।

समासः—प्रतिशुश्रावेति प्रतिशुश्रुवान् । आगतमनतिक्रम्य यथागतम् । मातलिः सारथिर्यस्यासौ मातलिसारथिः । प्रकृष्टं मनो यस्य स प्रमना न अतिप्रमनाः नातिप्रमनाः । सद एव गृहं सदोगृहं तत् सदोगृहम् । सुदक्षिणायाः सूनुः सुदक्षिणासूनुः ।

भावार्थः—महेन्द्रो हि रघूक्तं स्वीकृत्य परावृत्तः । रघुरपि साश्वोऽहं प्रस्थितः, निरश्व च परावर्ते इति अश्वनाशलज्जातो नातिहृष्टः सन् स्वपितुर्यज्ञशालां प्रत्याजगामेति भावः ।

सञ्जी०—तथेतीति । मातलिसारथिरिन्द्रो रघोः सम्बन्धिनं कामं मनोरथं तथेति तथास्त्विति प्रतिशुश्रुवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । यथाऽऽगतं ययौ । सुदक्षिणासूनु रघुरपि नातिप्रमना विजयलाभेऽप्यश्वनाशान्नातीव तुष्टः सन् । नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः । नृपस्य सदोगृहं प्रति न्यवर्तत ।

भाषार्थ—इन्द्र रघु से वैसा ही होगा ऐसी प्रतिज्ञा कर जिधर से आये थे उसी मार्ग से लौट गये । रघु भी अनमना हो राजा दिलीप की सभा की ओर लौटे ।

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—हरेः शासनहारिणा प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः तदीयं कुलिशव्रणाङ्कितम् अङ्गं हर्षजडेन पाणिना परामृशन् तम् अभ्यनन्दत् ।

व्याख्या—हरेः=इन्द्रस्य । शासनहारिणा = सन्देशहरेण, दूतेन । प्रथमं = पूर्वमेव । प्रबोधितः=सकलं वृत्तान्तं ज्ञापितः । प्रजेश्वरः = राजा दिलीपः । हर्षजडेन = सानन्दमन्थरेण । पाणिना = हस्तेन । कुलिशव्रणाङ्कितं = वज्राघातव्रणभूषितम् । तदीयं = रघुसम्बन्धिनं । अङ्गं = शरीरम् । परामृशन्=संस्पृशन् । तं= रघुम् । अभ्यनन्दत् = प्रशशंस ।

समासः—प्रजानामीश्वरः प्रजेश्वरः । शासनं हरति तच्छीलः शासनहारी तेन शासनहारिणा । तस्येदं तदीयं तत् तदीयम् । कुलिशेन जाताः व्रणाः कुलिश-व्रणाः तैः अङ्कितं कुलिशव्रणाङ्कितं तत् कुलिशव्रणाङ्कितम् । हर्षेण जडः हर्षजडः तेन हर्षजडेन ।

भावार्थः—इन्द्रदूतमुखेन पूर्वमेव ज्ञातसकलवृत्तान्तो राजा दिलीपः, यज्ञशालां समेत्य प्रणामं कुर्वतः पुत्रस्य रघोः वज्रेण विद्धं शरीरं सानन्दं स्पृशन् साधुवाद-पूर्वकं तमभिनन्दितवानिति भावः ।

सञ्जी०—तमिति । हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथमं प्रबोधितो ज्ञापितः । वृत्तान्तमिति शेषः । प्रजेश्वरो दिलीपो हर्षजडेन हर्षशिशिरेण पणिना कुलिशव्रणाङ्कितम् । तस्य रघोरिदं तदीयम् । अङ्गं शरीरं परामृशंस्तं रघु-मभ्यनन्दत् ।

भावार्थ—इन्द्रदूत से पहले ही जाने हुए राजा दिलीप ने उस रघु के वज्रा-ङ्कित शरीर को हर्ष से काँपते हुए हाथ से छूकर उनकी प्रशंसा की ॥ ६८ ॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

अन्वयः—महनीयशासनः क्षितीशः इति महाक्रतूनां नवाधिकां नवतिं आयुषः क्षये दिवं समारुरुक्षुः सोपानपरम्परा इव ततान ।

व्याख्या—महनीयशासनः = पूजनीयाज्ञः, अनुलङ्घनीयादेशः । क्षितीशः= भूपतिः, राजा दिलीपः । इति=अनेन प्रकारेण । महाक्रतूनां=अश्वमेधानाम् । नवाधिकां नवतिं=एकोनशतम् । आयुषः=जीवितस्य । क्षये=नाशे । दिवम्= स्वर्गम् । समारुरुक्षुः=आरोढुमिच्छन् । सोपानपरम्परामिव=आरोहणपङ्क्ति-मिव । ततान=विस्तारयामास ।

समासः—क्षितेरीशः क्षितीशः । नवभिरधिका नवाधिका तां नवाधिकाम् । महान्तश्च ते क्रतवः महाक्रतवः तेषां महाक्रतूनाम् । महनीयं शासनं यस्यासौ महनीयशासनः । समारुरुक्षतीति समारुरुक्षुः । सोपानानां परम्परा सोपानपरम्परा तां सोपानपरम्पराम् ।

भावार्थः—ऊर्ध्वगमनाय सोपानेषु पदं निधाय गन्तुं सौकर्यं भवतीति भाव-नया राजा दिलीपः देहावसाने स्वर्गारोहणार्थं सोपानानीव एकोनशतम् अश्वमेधा-नकार्षीदिति भावः ।

सञ्जी०—इतीति। महनीयशासनः पूजनीयाज्ञः क्षितीश इत्यनेन प्रकारेण 'इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिषु' इत्यमरः। महाक्रतूनामश्वमेधानां नवभिरधिकां नवतिमेकोनशतमायुषः क्षये सति दिवं स्वर्गं समारुरुक्षुरारोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पंक्तिमिव ततान।

भाषार्थ—इस प्रकार आदरणीय आज्ञा वाले पृथ्वीपति दिलीप ने जीवन समाप्त होने पर स्वर्ग में चढ़ने की अभिलाषा से नौ अधिक नब्बे (९९) अश्वमेध यज्ञ की सीढ़ियों की कतार के समान रचना की ॥ ६९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—अथ विषयव्यावृत्तात्मा सः यथाविधि यूने सूनवे नृपतिककुदं सितातपवारणं दत्त्वा तया देव्या सह मुनिवनतरुच्छायां शिश्रये हि गलितवयसाम् इक्ष्वाकूणां इदं कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तरम्। विषयव्यावृत्तात्मा=विषयनिवृत्तचितः, भोगपराङ्मुखः। सः=दिलीपः। यूने=तरुणाय। सूनवे=सुताय, रघवे। यथाविधि=यथाशास्त्रम्। नृपतिककुदं=राजचिह्नम्। सितातपवारणं=श्वेतच्छत्रम्। दत्त्वा प्रदाय। तया=प्रसिद्धया देव्या। सह=महिष्या सुदक्षिणया साकम्। मुनिवनतरुच्छायां=आश्रमपादपच्छायाम्। शिश्रिये=आश्रितवान्। हि=यतः। गलितवयसां=वृद्धानाम्। इक्ष्वाकूणां=इक्ष्वाकुकुलप्रसूतानां राज्ञाम्। इदं=वार्द्धक्ये वनगमनम्। कुलव्रतं=वंशनियमः, प्रसिद्ध आसीत्।

समासः—विषयेभ्यो व्यावृत्तः विषयव्यावृत्तः विषयव्यावृत्तः आत्मा यस्यासौ विषयव्यावृत्तात्मा। विधिमनतिक्रम्य यथाविधि। नृपतेः ककुदं नृपतिककुदम्। आतपं वारयतीति आतपवारणं यद्वा आतपस्य वारणमातपवरणम् सितं च तत् आतपवाणमिति सितातपवारणं तत् सितातपवारणम् मुनीनां वनं मुनिवनं यस्य तरव इति मुनिवनतरवः तेषां छाया मुनिवनतरुछाया तां मुनिवरतरुछायाम्। गलितं वयो येषां ते गलितवयसः तेषां गलितवयसाम्। कुलस्य व्रतम् कुलव्रतम्। इक्ष्वाकोर्गोत्रपत्यानि ऐक्ष्वाकवः तेषाम् ऐक्ष्वाकूणाम्।

भावार्थः—वृद्धावस्थायां विषयेभ्यो विरक्तो राजा दिलीपः स्वपुत्राय रघवे राज्यचिह्नं श्वेतच्छत्रं च प्रदाय राज्या मुनिवनम् ... आश्रमम्

स्वीकृत्य तपसे वनमुपगम्य मुनिवनतरुच्छायासु आश्रयणं कृतवान्। यतो हि इक्ष्वाकुकुलोत्पन्ना राजानो वार्द्धक्ये इदमेव परम्परया समाचरनिति भावः।

सञ्जी०—अथेति। अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः स दिलीपो यथाविधि यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं राजचिह्नम्। 'ककुद्वत्ककुदं श्रेष्ठे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि' इति विश्वः सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या सुदक्षिणया सह मुतिवनतरोश्छायां शिश्रिये श्रितवान्। वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः। तथा हि—गलितवयसां वृद्धानामिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम्। तद्राजसंज्ञकत्वादणो लुक्। इदं वनगमनं कुलव्रतम्। देव्या सहेत्यनेन सपत्नीकवानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः। तथा च याज्ञवल्क्यः—"सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्। वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्"। इति। हरिणीवृत्तमेतत्। तदुक्तम्—"रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा" इति।

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः॥ ३॥

भाषार्थ—इसके बाद विषयों से विरक्त होकर वे वृद्ध राजा दिलीप युवक पुत्र रघु को नियमानुसार श्वेतच्छत्रादि राज्यचिह्न दे रानी के साथ तपोवन चले गये, क्योंकि इक्ष्वाकुओं की यही कुलपरम्परा थी॥ ७०॥

इति कविवरकालिदासकृते रघुवंशे महाकाव्ये
पण्डितश्रीकृष्णमणित्रिपाठिना कृतायां
विमलाख्यायां व्याख्यायां
तृतीयः सर्गः समाप्तः।

श्लोकानुक्रमणिका

संस्कृत परीक्षोपयोगी प्रकाशन

१ रघुवंशमहाकाव्य प्र० सर्ग । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्या०—शेषराज शर्मा

२ रघुवंशमहाकाव्यम् । 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या श्रीकृष्णमणि
द्वितीय २-५० तृतीय ३-००, ४-५ ५-००, ६-७ ६-०० १ ... ५-

३ हितोपदेश मित्रलाभ । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराज शर्मा ६-

४ लघुसिद्धान्तकौमुदी । 'शिवाख्य' सं० हि० टीका—गोमतीप्रसाद ... १०—००

५ तर्कसंग्रह—पदकृत्य । हिन्दी टीका सहित—श्री शेषराज शर्मा ...

६ दशकुमारचरित-पूर्वपीठिका । परीक्षोपयोगि 'विमला' संस्कृत-हिन्दी ..
सहित । व्याख्याकार—पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी ६—००

७ कुमारसम्भव । 'विमला' संस्कृत-हिन्दी टीका—श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
१—२ सर्ग ५—५० तृ० सर्ग २—२५ चतुर्थ सर्ग २—२५ पञ्चम सर्ग २—५०

८ स्वप्नवासवदत्ता । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराजशर्मा रेग्मी ८—००

९ नीतिशतकम् । 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित—कृष्णमणित्रिपाठी ३—५०

१० पञ्चतन्त्र । अपरीक्षितकारक । 'विमला' सं. हि. टीका । श्रीकृष्णमणि त्रि० ४—००

११ संस्कृत-व्याकरणम् । (अनु० खंड-निबन्ध खण्ड सहित)—पं० रामचन्द्र झा ८—००

१२ सांख्यकारिका । 'सांख्यप्रकाश' सं.हि. टीका सहित । श्रीकृष्णमणित्रिपाठी ५—००

१३ वेदान्तसार । 'भावबोधिनी' सं० हि० टीका—श्रीरामशरण त्रिपाठी ६—००

१४ मेघदूत । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराज शर्मा रेग्मी १४—००

१५ रामाभ्युदययात्रा । सं० हि० टीका सहित—श्रीरुद्रप्रसाद अवस्थी ७—००

१६ शिशुपालवध । सं० हि० टीका सहित । रामजीलाल शर्मा १-४ सर्ग १[illegible]—००

१७ दशरूपक । 'चन्द्रकला' हि० टीका सहित—डॉ० भोलाशंकर व्यास १८—००

१८ साहित्यदर्पण । 'शशिकला' हिन्दी टीका १-६ परि० ३०-००, ७-१०परि १५—००

१९ काव्यप्रकाश । 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका—डॉ० सत्यव्रत सिंह ३०—००

२० भट्टिमहाकाव्य । सान्वय संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । श्रीगोपालशास्त्री
'दर्शनकेशरी' १—४ सर्ग ८—०० ५—८ सर्ग १०—०० एवं १४—२२ सर्ग १०—००

२१ नैषधमहाकाव्य । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । श्रीशेषराजशर्मा
प्र० सर्ग ६—००, १-३ सर्ग १२—०० १-५ सर्ग १८—०० १-९ सर्ग ३०—००

२२ छन्दोमञ्जरी । (प्रमाणिक-संस्करण) । 'सुषमा'-'सफला' संस्कृत-
हिन्दी व्याख्या युक्त । व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ५—००

२३ किरातार्जुनीयम् । 'विजया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, परीक्षोपयोगि
संस्करण । डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी । द्वितीय सर्ग २—०० ३ [illegible] सर्ग ७—००

२४ प्रस्तावरत्नाकरः । परीक्षोपयोगि निबन्ध संग्रह । डॉ० ब्रह्मानन्दत्रिपाठी ७—५०

२५ धनुदानचन्द्रिका । (सर्वांगपूर्ण संस्करण) डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी १०—००